आलोचनात्मक प्रश्न

1. कबीर का स्त्री विषयक चिंतन

1. **कबीरदास के स्त्री विषयक चिंतन की विवेचना कीजिए।** **[M.D.U. Aug. 2021]**

अथवा

नारी विषयक कबीरदास की विचारधारा पर प्रकाश डालिए।

अथवा

कबीर के स्त्री संबंधी दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर–कबीरदास का स्त्री-विषयक चिंतन–कबीर का आगमन उस समय हुआ जब भारतीय समाज पतनोन्मुख था। मुसलमानों की गुलामी के कारण यहां की नारी की दशा भी दयनीय थी। उसका भरपूर शोषण हो रहा था और उसे प्रयोग में लाई जाने वाली वस्तु के समान समझा जाता था। कबीर दास ने भी तत्कालीन समाज की भांति ही नारी को पुरुष के विकास के मार्ग की बाधा समझा। इसलिए उन्होंने अपनी भक्ति भावना में सदाचार पर बल दिया और नारी से दूर रहने का उपदेश दिया। उनके अनुसार आचरण की शुद्धता अथवा सदाचार तभी सम्भव जब एक साधक सभी प्रकार के विकारों को उत्पन्न करने वाली दो वस्तुओं कनक और कामिनी का परित्याग कर देगा। कबीर ने नारी को कामिनी कहकर उसका विरोध किया है। उनका मत है कि कामिनी भक्त के भक्ति के मार्ग में बोधक है तथा मानव के तीनों सुखों का विनाश कर देती है–

"नारि न सावै तीन सुख जा नर पासै होय।
भगति मुकति निज ज्ञान में, पैसि न सकर्र कोय।।"

कबीरदास अपने मत पर अडिग रहने वाले कवि हैं। उनके मन में जो धारणा एक बार बन गई वह सदा के लिए बनी रही। उन्होंने नारी को माया रूप में माना किन्तु अपने इस विचार पर अडिग रहते हुए वे भूल गए कि उसका समाज में हर प्रकार का शोषण हो रहा था और उस पर तरह-तरह के अत्याचार हो रहे थे। यह उनका हठ ही था। उन्होंने अपने काव्य में नारी को जिस रूप में चित्रित किया है उसे निम्नांकित शीर्षकों के माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है–

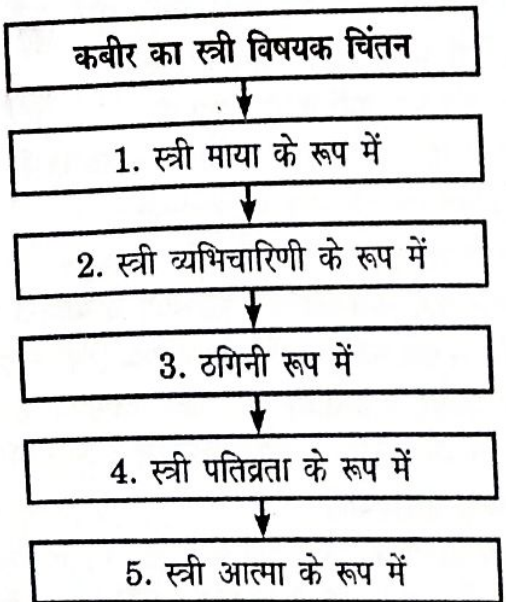

1. स्त्री-माया के रूप में–कबीरदास ने अपने काव्य में स्त्री को माया के प्रतीक रूप में माना है। उन्होंने स्त्री को एक ऐसी मायवी शक्ति के रूप में देखा है जो पुरुष को ईश्वर से मिलने से रोकती है। उनकी दृष्टि में स्त्री एक घाटी है जिसे पार करके पुरुष का ईश्वर से मिलना बहुत कठिन है–

"चलो-चलो सब कोउ कहे, पार न पहुँचे कोय।
एक कनक और कामिनी, दुर्गम घाटी दोय।।"

कबीर ने एक अन्य स्थल पर नारी को विश्वासघातिनी कहा है क्योंकि वह भक्त को उसके ईश्वर से विमुख कर देती है–

"हरि बिचि घालै अंतरा, माया बड़ी बिसास।।"

2. स्त्री व्यभिचारिणी के रूप में–कबीरदास ने तृष्णा की तुलना व्याभिचारिणी स्त्री से की है। जिस प्रकार तृष्णा के फंदे में फंसा व्यक्ति इधर-उधर भ्रमित रहता है, उसी प्रकार स्त्री (व्यभिचारिणी) के फंदे में फंस कर व्यक्ति भ्रमित अनुचित मार्ग पर चल पड़ता है–

"तिया तृष्णा पापणीं, तासु प्रीति न जोड़ि।
पैड़ी चढि पाछां पड़े, लागै मोटी खेड़ि।।"

3. स्त्री ठगिनी के रूप में–कबीरदास नारी को माया के रूप में ऐसी ठगिनी बताते हैं, जो मीठी वाणी में बात करती है, परंतु त्रिविध फाँस के लिए डोलती है और पुरुष को फँसा लेती है। इसका प्रभाव केवल पुरुष पर ही नहीं है अपितु बड़े-बड़े देवताओं पर भी है। वे कहते हैं–

"माया महाठगिनी हम जानी
तिरगुन फाँस लिए कर डौले बोलै मधुरी बानी।
केशव के कमला होई बैठी, सिव के भवन भवानी
पंडा के मूरत होय बैठी, तीरथ हूँ में पानी।"

कबीरदास ने स्त्री को नाम स्मरण के बाधक और दुर्गति की जन्मदात्री कहा है। वह जीव और परमात्मा के बीच व्यवधान उत्पन्न कर देती है। आत्मा में परमात्मा से दूर जाने वाली बुद्धि का विकास करती है। यथा–

"कबीर माया पापिनीं, हरि से करै हराम।
मुखि कड़ियाली कुमति की, कहण न देई राम।।"

कबीर के अनुसार स्त्री का मायावी आकर्षण इतना अधिक है कि सर्प पर भी उसकी परछाई पड़ जाए तो वह अंधा हो जाता है, पुरुष, जो सदैव नारी के समीप रहता है, इससे उसकी स्थिति का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है–

"नारी की झांई परत, अंधा होत भुजंग।
कबीरा तिनकी कौन गति, जो नित नारी के संग।"

4. स्त्री पतिव्रता के रूप में–कबीरदास व्यभिचारिणी नारी की भले ही कड़े शब्दों में भर्त्सना की हो किन्तु पतिव्रता नारी की खूब प्रशंसा की है और उसे आदर्श मानकर आत्मा व परमात्मा के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। उनका मानना है कि पतिव्रता नारी केवल अपने को छोड़कर और किसी अन्य पुरुष की ओर देखती भी नहीं। ऐसी नारी के प्रति कबीर ने लिखा है–

"पतिव्रता मैली भली, काली, कुचित कुरूप।
पतिव्रता के रूप पर, वारौं कोटि सरूप।"

यही नहीं वे कहते हैं कि पतिव्रता स्त्री यदि अभावग्रस्त हो तो परमात्मा को ही लज्जा का अनुभव होता है।

"उस संग्रथ का दास हौं, कदे न होई अमाज।
पतिव्रता नाँगी रहै, तो उसही पुरिस कौ लाज।।"

5. आत्मा रूप से नारी–कबीर दास ने जहाँ नारी को कामिनी माया व पापिनी कहकर उसकी निंदा की है वहीं कबीर ने आत्मा को नारी के रूप में चित्रित किया है। कबीर की दृष्टि में आत्मा एक ऐसी नारी है जो अपने प्रियतम परमात्मा से मिलने के लिए सदैव आतुर रहती है। इस दृष्टि से कबीर ने नारी को पत्नी और परमात्मा को पति के रूप में स्वीकार किया है। आत्मा रूपी स्त्री का परमात्मा रूपी प्रियतम से मिलने की व्याकुलता को कबीरदास ने निम्नांकित शब्दों में स्पष्ट किया है–

"दुलहनी गावहु मंगलाचार,
हम घरि आए हो राजा राम भरतार।
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ, पंचतंत्र बराती
रामदेव मोरैं पाँहुने आये, मैं जवान मैं माती।।"

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि कबीर का स्त्री विषयक चिन्तन अधिक उदार नहीं है। वस्तुतः कबीर पर नाथ पंथी संतों का प्रभाव है। उन्होंने आचरण शुद्धता के लिए नारी से दूर रहने पर बल दिया है। उन्होंने नारी को ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में बाधक समझा है। कबीरदास नारी विरोधी थे–यह कहना पूर्णतः सत्य नहीं है। वे स्वयं विवाहित व्यक्ति थे। उनकी दो सन्तानें भी थी। उन्होंने नारी के व्यभिचारिणी रूप की निंदा अवश्य की है किन्तु पतिव्रता नारी की उन्होंने भरपूर प्रशंसा की है। इतना अवश्य है कि समाज में नारी के कामिनी व पतिव्रता पत्नी रूप ही नहीं होते अपितु उसके बहिन, माँ, सखी आदि अनेक होते हैं। इन रूपों की ओर कबीर का ध्यान नहीं गया। उन्होंने स्त्री को पुरुष की सेविका रूप में चित्रित किया है, जो संकीर्ण दृष्टिकोण है।

◆◆◆

2. कबीर की मानवतावादी दृष्टि

2. कबीर के काव्य के आधार पर उनकी मानवतावादी दृष्टि का उद्‌घाटन कीजिए।

अथवा

कबीर के मानवतावादी दृष्टिकोण पर प्रकाश डालिए।

अथवा

कबीर की भक्ति में उनका मानवतावादी दृष्टिकोण सर्वत्र दिखलाई पड़ता है। उनके मानवतावादी दृष्टिकोण पर प्रकाश डालिए।

(M.D.U. Aug. 2021)

अथवा

"कबीर को मानवतावादी कवि कहना कहाँ तक उचित है?" इस प्रश्न का सोदाहरण उत्तर दीजिए। (Most Imp.)

उत्तर–कबीर की मानवतावादी दृष्टि–कबीर के काव्य में मानवतावादी दृष्टि की समीक्षा करने से पूर्व हमें यह जान लेना आवश्यक है कि मानवतावादी चेतना या मानवतावादी विचारधारा किसे कहते हैं? वस्तुतः इस सृष्टि में मानव ही ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ रचना है क्योंकि मानव ही वह प्राणी है जिसमें अच्छे-बुरे की पहचान करने की क्षमता है। किन्तु किसी मानव को श्रेष्ठ मानव केवल इसी पहचान के कारण नहीं माना जा सकता। मानवोचित गुणों के कारण ही मानव को मानव कहा जाता है। दया, करुणा, प्रेम, उदारता, ममता, सहनशीलता, सेवा, समर्पण, क्षमा आदि उदात्त गुणों के कारण ही मानव की मानवता सभी के लिए मंगलकारी होती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इन्हीं महान गुणों के कारण सच्चे अर्थों में मानव मानव कहलाने के योग्य होता है। अपने इन्हीं गुणों के कारण ही मानव सृष्टि का श्रेष्ठतम प्राणी माना जाता है। **ऋषि वेदव्यास** ने कहा है–**"नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं किञ्चित्।"**

इसी प्रकार **संत चण्डीदास** ने सृष्टि के सभी प्राणियों के ऊपर मानव को बताया है–

"सुन रे मानुष भाई।
सवार ऊपरे मानुष सत्य, ताहार ऊपरे नाई।।"

स्वयं कबीरदास भी मनुष्य जन्म को श्रेष्ठतम जन्म स्वीकार करते हैं–**"मानुस जन्म दुरलभ अहै होइ न दूजो बार।।"**

निश्चय ही मानव जन्म बहुत दुर्लभ है। सच्चे अर्थों में मानव वही है जो सबको समभाव, समदृष्टि से देखे और सबके साथ समान व्यवहार करे। जो धर्म की दृष्टि से या जातिगत भेदभाव न करे। सबको ईश्वर की सन्तान समझकर उन्हें आदर प्रदान करे। हमारे नीति ग्रंथों में भी इसी भाव का समर्थन किया गया है–

"अयं निजः परोवेत्ति गणना लघु चेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।"

समभाव एवं उदार दृष्टिकोण ही सच्ची मानवता का आधार है। मानव-मानव के बीच एकता की भावना और सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता एवं आदर का भाव ही 'मानवतावाद' की सही पहचान है। एक सच्चा मानवतावादी व्यक्ति कभी भी धार्मिक, सांस्कृतिक व साम्प्रदायिक, जातिगत आदि किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं करता। कबीर के काव्य के अध्ययन से ज्ञात हो जाता है कि कबीर मूलरूप से मानवतावादी संत एवं कवि थे। वे सभी मानव में उस एक परमतत्त्व के दर्शन करते थे। वे सब को उसी

दिव्य ज्योति से उत्पन्न समझते थे। उन्होंने सभी मानव को ईश्वरीय ज्योति से सम्पन्न समझा और इसी आधार पर मानव-मानव में एकता स्थापित करने का प्रयास किया।

कबीरदास के युग में मानवतावादी विचारधारा की स्थापना का अत्यधिक महत्त्व है क्योंकि उस समय का समाज मानवीय भावना को भूलकर गर्त अथवा पतन की ओर जा रहा था। मानव-मानव के प्रति पशुवत् व्यवहार कर रहा था। धार्मिक व्यवस्था इतनी जटिल हो चुकी थी कि जीवन जीना कठिन हो गया था। राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था पूर्णतः विशृंखलित हो चुकी थी। सामान्य व्यक्ति शोषण, अन्याय और अत्याचारों में पिस रहा था। पूर्ण मानवता कराह उठी थी।

जहां मुस्लिम शासक अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे, वहीं मुस्लिम धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए हिन्दू जनता को तंग किया जा रहा था। तत्कालीन शासक सिकन्दर लोदी ने काशी में आकर हिन्दुओं को इसलिए दण्डित किया था क्योंकि उन्होंने मुसलमानों का विरोध किया था। यहाँ तक कि कबीरदास जैसे संतों को भी दण्ड दिया गया और उन्हें हाथी के पैरों के नीचे कुचलवाने का प्रयास किया गया। अनन्तदास द्वारा रचित **'कबीर परचयी'** में लिखा गया है–

स्याह सिकन्दर कासी आया। काजी मूल के मन भाया।

× × × × ×

बाँध्यो पग मेल्यो जंजीरू। ले बोरयो गंगा के नीरू।।

तत्कालीन बौद्ध धर्म भी पतन के कगार पर था। नाथपंथी योगी भी चमत्कार प्रदर्शन के कारण भ्रमित थे। अन्य धर्म भी भूत-प्रेत और जादू-टोनों, देवी-देवताओं की पूजा चक्र में पड़े हुए थे। हिन्दू धर्म की स्थिति भी कुछ अच्छी नहीं थी। वह वर्णाश्रम और वर्ग भेद का शिकार बना हुआ था। ब्राह्मण वर्ग छाया-तिलक, तीर्थ व्रत आदि दिखावे के द्वारा जनता को प्रभावित करने में लगे हुए थे। समाज में सर्वत्र रूढ़िवादी परम्पराओं के पालन का बोलबाला था। मुसलमान भी धर्म के नाम पर दिखावा करने में पीछे नहीं थे। इन सब विषमताओं को दूर करने के लिए एक उदार मानव धर्म की स्थापना की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। जिसे कबीर ने अपने अथक प्रयास से पूर्ण करने का सफल प्रयास किया था। कबीर ने अनेक वर्णों में विभाजित सम्पूर्ण समाज में एकता एवं सद्भावना उत्पन्न करने के लिए अपनी मार्मिक वाणी को प्रवाहित किया।

कबीरदास ने सर्वप्रथम मानव द्वारा मानव के प्रति किये गए अमानवीय व्यवहार का विरोध किया। वे मानव-मानव में कोई अन्तर नहीं समझते थे। उन्होंने बताया कि हिन्दू और मुसलमान में कोई भेद नहीं है। दोनों ही एक ईश्वर व अल्लाह की सन्तान हैं। सबका पिता एक है तो फिर कौन छोटा और कौन बड़ा है। यह विरोध तो केवल स्वार्थपूर्ति के लिए है। जिस विधि से हिन्दू का जन्म हुआ उसी विधि से मुसलमान भी जन्मा है। यह भेद तो मानव निर्मित है। कबीर ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को फटकारते हुए कहा है–

"जो तू बॉमन बामनी जाया तो आन बाट होइ काहे न आया।"

इसी प्रकार मुसलमान से भी प्रश्न किया–

"जो तू तुरक तुरकनी जाया तो भीतरि खतना क्यों न कराया।"

कहने का भाव कि मानव-मानव सब समान हैं, ये धार्मिक भेदभाव, ऊँच-नीच आदि सब मनुष्य ने बनाए हैं। अतः स्पष्ट है कि कबीर ने अपनी वाणी में सिद्ध कर दिया है कि मानव-मानव में कोई अन्तर नहीं। अन्यत्र भी उन्होंने लिखा है–

जाति पाति पूछै नहिं कोय, हरि कौ भजै सो हरि का होय।

कबीरदास ने धर्म के नाम पर किए जा रहे व्रत, उपवास, तीर्थ, पूजा, जटा धारण, भस्ममेव, मूर्ति-पूजा, रोजा, नमाज, हज, तिलक, गंगा स्नान आदि को दिखावा बताया और उनका जोरदार शब्दों में खण्डन किया क्योंकि इन्हीं रूढ़ियों के माध्यम से वे भोली-भाली जनता का शोषण करते थे। इसलिए वे इन रूढ़ियों को जड़ से उखाड़ देना चाहते थे और सच्चे मन से ईश्वर भक्ति पर बल देते थे। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि गंगा स्नान करने से मनुष्य के मन का मैल दूर नहीं होता। जब तक मन शुद्ध व हृदय निर्मल नहीं होगा तो गंगा स्नान व तीर्थ यात्रा आदि सब पाखण्ड व दिखावा ही समझे जाएंगे–

"गंगा नहाइन यमुना नहाइन नौ मन मैल लिहिन-चढ़ाई।
पाँच पचीस के धक्का खाइन घरहूँ कै पूँजी दिहिन गवाँई।।"

× × × × ×

"पाथर पूजै हरि मिलै तो मैं पूंजू पहार।
तातै तो चाकी भली पीस खाय संसार।"

× × × × ×

"पंडित होय के आसन मारे, लम्बी माला जपता है।
अन्दर तेरे कपट कतरनी, सो भी साहब लखता है।।"

कबीरदास ने सभी मानवों को ईश्वर की सन्तान मानकर उनके प्रति मानवोचित व्यवहार करने का उपदेश दिया है। उनकी दृष्टि में आदर्श मानव वही है, जो मन-वचन कर्म से एक हो तथा ईश्वर में आस्था रखता हो। कबीरदास ने सर्वप्रथम अपने मन को वश में अथवा नियन्त्रण में रखने की आवश्यकता पर बल दिया है। उनका कथन है–

"कबीरू मारूँ मन कौ, टूक टूक ह्वै जाइ।
विष की क्यारी बोइ करि, लुणात कहा छिपाइ।।"

कबीरदास की मानवतावादी चेतना अत्यन्त उदार है। वे सभी धर्मों को समान मानते हैं। वे हिन्दू और मुसलमान सम्प्रदाय के लोगों के मतभेद को समाप्त करने के लिए दोनों की तुलना करते हैं और दोनों में समानता दिखाने का प्रयास करते हैं। वे राम और रहीम में कोई अन्तर नहीं समझते। उनकी दृष्टि में राम ही रहीम है और ईश्वर ही अल्लाह है। उनका कथन है–

"हमारै राम रहीम करीमां कैसो अहल सति सोइ।
इनकै काजी मुला पीर पैगम्बर रोजा पछिम निवाला।
इनकै पूरब दिसा देव दिज पूजा, ग्यारिस गंग दिवाजा।
तुरक मसीति देहुरै हिन्दू, दहूठा राम खुदाई।
जयां मसीति देहुरा नाहिं, तहाँ काकी ठकुराई।"

कबीर का मानवतावादी दृष्टिकोण भक्ति-भावना के क्षेत्र में भी देखा जा सकता है। तत्कालीन समाज में भक्ति को लेकर भी भेदभाव किया जा रहा था, किन्तु कबीरदास ने भक्ति को लोकमानस के लिए सहज और सुलभ बना दिया। हर छोटा-बड़ा, गरीब-अमीर, ऊँच-नीच सब ईश्वर की भक्ति कर सकते हैं। कबीर ने शास्त्रमुक्त भक्ति का आरम्भ किया था। इसके साथ ही उन्होंने शास्त्रों के साथ-साथ कट्टर भावना का विरोध करके सहज एवं स्वाभाविक भक्ति-भावना का आरम्भ किया। उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में भी विवेक एवं अनुभव के आधार पर सत्य की खोज की थी। अतः कबीरदास ने सहज एवं सरल भक्ति का प्रचार-प्रसार किया जिसे बिना भेदभाव के कोई भी अपना सकता है। उन्होंने कहा है कि सहज एवं स्वाभाविक रूप से विषय-वासनाओं को त्यागकर ही भक्ति अपनाई जा सकती है। इसे कोई भी अपना सकता है–

"सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्हें कोई।
जिन सहजै विषया तजी, सहज कहीजै लोई।।"

कबीर मानवीय एकता में विश्वास रखते थे। इसलिए उन्होंने मानव-मानव में भेद करने वाले तत्त्वों का खण्डन किया और उन तत्त्वों का समर्थन किया जिससे मानवीय एकता का विकास होता है। उन्होंने कहा कि ईश्वर ने एक ही बूँद से सृष्टि की स्थापना की है। ईश्वर की दृष्टि में न कोई ब्राह्मण है और न कोई शूद्र। उन्होंने निडरतापूर्वक ऐसे हिन्दू व मुसलमान की भर्त्सना की है जो मानव-मानव में भेद-भाव को बढ़ावा देता है–

"पीरां मुरीदां काजियां मुला अस दरवेस।
कहाँ थे तुम्ह किनि कीये अकलि है सब नेस।
कुरानां कतेबा अस पढ़ि पढ़ि फकिरि या नहि जाइ।
टुक दम करारी जे करै हाजिरां सूर खुदाइ।।"

कबीर की वाणी के आधार पर कहा जा सकता है कि एक मानवतावादी होने के लिए जिन आवश्यक गुणों की आवश्यकता होती है वे कबीर के व्यक्तित्व में भरे पड़े थे, जैसे–सहिष्णुता, त्याग पर दुःखकातरता, तितिक्षा आदि। सच तो यह है कि इन सभी गुणों वाला व्यक्ति सुसभ्य एवं सुसंस्कृत कहा जा सकता है। कबीर में मानवतावादी दृष्टिकोण अपनी चरम सीमा को छू रहा था। वे दूसरों के कष्टों को अनुभव करते थे। वे अपने स्वार्थ के लिए नहीं अपितु संसार के लिए रोते थे और बेचैन हो उठते थे। उनकी आत्मा की बेचैनी इन शब्दों में व्यक्त हुई है–

सुखिया सब संसार है, खावै अरू सोवे।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरू रोवै।।

संत काव्य कबीरदास की मानवतावादी चेतना में संकीर्णता के लिए कोई स्थान नहीं है। कबीर ने समाज में व्याप्त संकीर्ण विचारों पर जमकर प्रहार किये हैं। कबीर ने निर्भीकतापूर्ण समाज की कुरीतियों का खंडन किया है। उन्होंने भेदभाव की नीति का खंडन करते हुए तर्क दिया है कि जब सभी मनुष्यों का पिता एक ईश्वर है और सभी उस ईश्वर की परम ज्योति से ज्योतित हैं तो फिर यह भेदभाव कैसा? ब्राह्मण या शूद्र तो मानव ने अपने स्वार्थ पूर्ति के लिए बनाए हैं। ये सभी भेदभाव सांसारिक है।

कबीरदास का इस संबंध में कथन है–

"एकै पवन एक ही पानी, करी रसोई न्यारी जानी।
मानी सूं माटी लै पोती, लखी कहो कहां धूं छोती।"

× × × × × ×

"जो तू बांमन बांमनी जाया, तो आन बाट है क्यों नहीं आया।
जो तू तुरक तुरकनी जाया, तौ भीतर खतना क्यों न कराया।।"

कबीरदास के इस कथन से पता चलता है कि वे मानव-मानव में समानता एवं एकता स्थापित करने के लिए कटिबद्ध थे। इस कथन के पीछे उनका साहस-दृढ़निष्ठा और निर्भीकता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। डॉ. रामदरश मिश्र ने कबीर के मानवतावादी विचारों से प्रभावित होकर कहा है, "वे मानव-धर्म की ऊँचाई के प्रतीक थे।" उनकी मानवतावादी चिन्तन धारा आज भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी उनके काल में थी। आज भी उनकी वाणी इस कराहती हुई मानवता के लिए सांत्वना का संदेश देती है।

◆◆◆

3. कबीर का रहस्यवाद

3. कबीर के काव्य के आधार पर उनकी रहस्यवादी भावना की विवेचना कीजिए।

अथवा

कबीर के रहस्यवाद को स्पष्ट कीजिए। **(M.D.U. Aug. 2021)**

अथवा

"रहस्यवादी कवियों में कबीर का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। कबीर शुद्ध रहस्यवादी कवि हैं।" इस कथन के प्रकाश में कबीरदास के रहस्यवाद की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर–रहस्यवाद का अर्थ एवं स्वरूप–मानव जब से ज्ञानवान हुआ है तभी से उसकी चिन्तन-प्रक्रिया में सृष्टि की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में जानने की प्रबल इच्छा रही है। उसने जब इस सृष्टि के रचयिता एवं नियन्ता के स्वरूप की गुत्थी को ज्ञान का आधार बनाकर सुलझाने का प्रयत्न किया तब वह दर्शन का विषय बन गया। किन्तु जब इसे कवि ने समझने का प्रयास किया तथा अपने अनुभवों को वाणी की विशेष पद्धति में अभिव्यंजित किया तब इसे रहस्यवाद की संज्ञा दी गई। हर श्रेष्ठ कवि किसी न किसी स्तर पर अवश्य ही रहस्यवादी होता है क्योंकि जन-मानस की भावनाएं कवि की वाणी के माध्यम से ही अभिव्यक्ति पाती हैं।

रहस्यवाद के स्वरूप को स्पष्ट करने हेतु अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से परिभाषाएं दी हैं। उनमें से कुछ प्रमुख विद्वानों की परिभाषाएं इस प्रकार हैं–

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रहस्यवाद की व्याख्या करते हुए लिखा है–

"ज्ञान के क्षेत्र में जिसे अद्वैतवाद कहते हैं, भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद कहलाता है।"

डॉ. सरनाम सिंह ने रहस्यवाद की परिभाषा देते हुए लिखा है, **"यह कहना समीचीन नहीं दीख पड़ता कि जो ज्ञान के क्षेत्र में अद्वैतवाद कहलवाता है, वही भावना के क्षेत्र में रहस्यवाद कहलाता है क्योंकि भावना के अतिरिक्त रहस्यवाद का सम्बन्ध अभिव्यक्ति के एक विशेष रूप से भी तो है जिसमें शब्द का अपना अर्थ और अपना संकेत होता है।"**

इन शब्दों के माध्यम से डॉ. शर्मा ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत का खण्डन किया है। उन्होंने रहस्यवाद की भावना को और स्पष्ट करते हुए कहा है–**"विशेष अनुभूति की प्रतीकाश्रित अभिव्यक्ति साहित्य में 'रहस्यवाद' नाम पाती है। रहस्यवाद कोई दार्शनिकवाद न होकर वस्तुतः साहित्यवाद है, जिसका लक्षण है प्रेमाश्रयी अद्वैतानुभूति एवं प्रतीकाश्रयी सांकेतिक अभिव्यक्ति।"**

कविवर जयशंकर प्रसाद ने रहस्यवाद को परिभाषित करते हुए लिखा है, **"काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्यधारा रहस्यवाद है।"**

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने काव्य-वस्तु और काव्य-विधान दोनों ही दृष्टियों से रहस्यवादी होना सम्भव मानते हुए लिखा है– **रहस्यवाद शब्द काव्य की एक धारा-विशेष को सूचित करता है। वह प्रधानतः उसमें लक्षित होने वाली उस अभिव्यक्ति की ओर संकेत करता है जो विश्वात्मक सत्ता की प्रत्यक्ष गम्भीर एवं तीव्र अनुभूति के साथ सम्बन्ध रखती है। अतएव रहस्यवाद का शब्द जिस प्रकार काव्यगत वस्तु (Matter) के अनुसार सार्थक है, उसी प्रकार उसके विधान (Form) की दृष्टि से भी उपयुक्त कहा जा सकता है और उसकी यही विशेषता उसे काव्यधाराओं से पृथक भी करती है।"**

डॉ. रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की व्याख्या करते हुए लिखा है–**"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शांत व निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है। यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रहता।"**

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय ने रहस्यवाद के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है–**"रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है जिसके भावोवश में प्राणी अपने ससीम और पार्थिक अस्तित्व से उस असीम एवं स्वर्गिक महा अस्तित्त्व' के साथ एकात्मकता का अनुभव करने लगता है।"**

डॉ. त्रिगुणायत जी ने ज्ञान, भक्ति और रहस्यवाद के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है–**"बुद्धि के सहारे आध्यात्मिक सत्य का निरूपण करना ज्ञान है, "भावना और प्रेम के सहारे ब्रह्म के आधिदैविक स्वरूप की उपासना भक्ति है। रहस्यवाद इन दोनों से भिन्न है। जब साधक भावना के सहारे आध्यात्मिक सत्ता की रहस्यमयी अनुभूतियों को वाणी के द्वारा शब्दमय चित्रों में सजाकर रखने लगता है, तभी साहित्य में रहस्यवाद की सृष्टि होती है।"**

उपर्युक्त परिभाषाओं को देखते हुए कहा जा सकता है कि प्रवृत्ति के कण-कण में उस अज्ञात सत्ता की झलक पाना, आत्मा को परमात्मा का अंश समझकर उससे सम्मिलन की आकांक्षा व्यक्त करना, उस अज्ञात सत्ता के रहस्योदघाटन-सम्बन्धी भाव व्यक्त करना आदि साहित्य के क्षेत्र में रहस्यवादी काव्य कहलाता है। 'परब्रह्म' या 'परमतत्त्व' की जिज्ञासा, उसका रहस्य जानने, उससे अपना सम्बन्ध स्थापित करने, अनुराग जताने और उसके साथ एकात्म हो जाने की इच्छा आदि ही रहस्यवाद के मूल आधार हैं।

रहस्यवाद का विकास

कुछ विद्वानों का मत है कि भारतीय परम्परा में रहस्यवाद की झलक सर्वप्रथम वेदों में देखी जा सकती है। किन्तु वैदिक ऋचाओं में विशुद्ध रहस्यवाद जैसी वस्तु नहीं मिलती है। वहाँ तो विभिन्न देवताओं से अपने कल्याण की विनय एवं प्रार्थना ही प्रमुख हैं। कहीं-कहीं ईश्वर से पिता आदि का सम्बन्ध अवश्य स्थापित किया गया है। किन्तु आत्मा और परमात्मा का उत्कट प्रेम भाव अभिव्यंजित नहीं होता, जिसे रहस्यवाद की प्रमुख विशेषता माना गया है। वेदों की ऋचाओं में सर्वत्र स्थापित सम्बन्धों की रक्षा और कल्याण की भावना ही प्रमुख है। वास्तव में उपनिषदों में आकर अद्वैतवाद के प्रतिपादन से रहस्यवादी परम्परा का प्रारम्भ होता है किन्तु वहां भावनात्मक माधुर्य के दर्शन न होकर दर्शन की शुष्क ज्ञानात्मक गुत्थी ही सुलझाई गई है। कहीं-कहीं उनमें विशुद्ध रहस्यवादी प्रवृत्ति के भावोन्मेष भी हैं, उदाहरणार्थ गीता के दशम अध्याय में भावात्मक प्रणाली पर सर्ववाद का निरूपण हुआ है, जो रहस्यवाद का ही एक अंश है। अतः स्पष्ट है कि उपनिषद्-साहित्य में परोक्ष सत्ता के प्रति रहस्यमयी अनुभूति और अनुराग की स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है।

किन्तु भारतीय धर्म साधना में अवतारवाद के प्रवेश से भारत की अध्यात्म प्रवृत्ति रहस्यवाद के स्थान पर भक्ति की ओर उन्मुख हुई। यही कारण है कि लौकिक संस्कृत-साहित्य तथा प्राकृत काव्य में रहस्यवाद की प्रवृत्ति बहुत कम प्रकट हुई। यहां पुराणों की साकार, सगुण अवतारवाद की भक्ति का ही प्रचार-प्रसार हुआ है। बौद्ध-धर्म जैसे अनीश्वरवादी मतवादों के प्रभाव से भी भारतीय अद्वैत दर्शन और रहस्यवादी प्रवृत्ति उभर न सकी। तदन्तर सिद्धों और योगियों की वाणी में रहस्य भावना के दर्शन होने लगे किन्तु यहां भावना से प्रमुख साधना है। सूफी सन्त कवियों और निर्गुण संत कवियों (कबीर आदि) के द्वारा ही सर्वप्रथम रहस्यवाद में प्रेम की मधुर भावना प्राप्त होती है। भक्ति युग के पश्चात् रहस्यवाद के दर्शन आधुनिक युग में छायावादी कवियों में होते हैं। किन्तु छायावादी काल की रहस्यवादी कविता पूर्वयुगों की रहस्यवादी काव्य रचनाओं से भिन्न हैं। यहां कल्पना की अधिकता है जबकि पूर्व काव्य रचनाओं में रहस्यवाद साधनात्मक एवं अनुभूतिपरक है। अतः स्पष्ट है कि भारतीय साहित्य में रहस्यवादी चेतना अनेक मोड़ों को पार करती हुई आगे बढ़ी है।

कबीर के काव्य में रहस्यवादी चेतना

कबीर से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व महाराष्ट्र के सन्त कवि ज्ञानेश्वर, नामदेव, सुलाबाई आदि ने हिन्दी में कुछ ऐसे पदों की रचना की थी जिनमें प्रेमपरक रहस्यवाद, भक्तिपरक रहस्यवाद, दर्शनपरक रहस्यवाद आदि विभिन्न रूपों में रहस्यवाद प्रकट हुआ है। नामदेव की निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

"मोही लगत ताला बेली। बछुरे बिनुगाई अकेली।
पानीआ बिनु मीनु तलफे। ऐसे राम बिनु बापुरा नाया।
× × × × × ×
मैं बउरी मेरा राम भरतार। रचि-रचि ताकड़ करउँ सिंगार।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य में कबीर से पूर्व ही रहस्यवाद का आरम्भ हो चुका था किन्तु कबीरदास ने रहस्यवादी चेतना को उसके शिखर तक पहुंचाने का महान् कार्य किया है। उनका सम्पूर्ण काव्य रहस्यवादी भावना से ओत-प्रोत है। कबीर ही ऐसे प्रथम कवि हैं जिन्होंने रहस्यवाद के विभिन्न पक्षों का अपने काव्य में सूक्ष्मतापूर्वक वर्णन किया है।

चराचर जगत को माया कहने वाले संत कवि कबीर ने प्रकृति में परब्रह्म के दर्शन प्रायः नहीं किए। इसीलिए उनके काव्य में प्रकृतिपरक रहस्यवाद नहीं मिलता, जैसा कि आधुनिक युग के कवि निराला, जयशंकर प्रसाद, महादेवी आदि के काव्य में पाया जाता है। कबीर का रहस्यवाद प्रेम और भक्तिपरक सच्चा रहस्यवाद है। कबीर के रहस्यवाद पर हठ योग और सूफी मत का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। यद्यपि उनके रहस्यवाद में विभिन्न मतों का प्रभाव अवश्य है किन्तु प्रमुखता अद्वैती भावना की ही है। विद्वानों ने कबीर के रहस्यवाद के विविध पक्षों पर अपने मत व्यक्त किये हैं। **डॉ. श्याम सुन्दर** ने कहा है–**"रहस्यवादी कवियों में कबीर का आसन सबसे ऊँचा है। शुद्ध रहस्यवाद केवल उन्हीं का है।"**

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर के रहस्यवाद पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, **"कबीर में जो रहस्यवाद है, वह बहुत कुछ उन पारमार्थिक संज्ञाओं के आधार पर है जो वेदान्त और हठयोग में निर्दिष्ट है; पर जायसी ने जिस रहस्यवाद का आभास दिया है, उसके संकेत स्वाभाविक एवं मर्मस्पर्शी हैं।"**

इसी प्रकार **डॉ. रामकुमार वर्मा** के अनुसार–**"कबीर ने अपने रहस्यवाद में अद्वैतवाद और सूफीमत की गंगा-जमुना एक साथ ही बहा दी है।"**

डॉ. त्रिगुणायत ने कबीर को रहस्यवादी भावना पर प्रकाश डालते हुए लिखा है–**"कहीं पर उनमें सूफियों के प्रेममार्ग का निरूपण मिलता है। कहीं पर हठयोगियों के पारिभाषिक शब्दों एवं प्रक्रियाओं का रहस्यात्मक वर्णन है तो कहीं वे सिद्धियों की सान्धय भाषा शैली का अनुसरण करते हैं और कभी उपनिषदों के ढंग पर रहस्यात्मक शैली में तत्त्व का प्रतिपादन।"**

कबीर के रहस्यवाद के विषय में विद्वानों के भले ही मत कुछ भिन्न रहे हों किन्तु सबने एक स्वर में स्वीकार किया है कि कबीर के काव्य में कहीं भी तर्क जल आश्रित ब्रह्म का वर्णन नहीं है। इसका कारण यही है कि कबीर ने अपनी अनुभूति को ही वाणी का रूपाकार दिया है। अनुभवशीलता के कारण उसमें विचित्रता का आना स्वाभाविक है। इसलिए उनका ब्रह्म इन्द्रियातीत अगम्य होते हुए भी गम्य है। वह प्रेम से प्राप्त हो सकता है। उन्होंने परमात्मा के विरह में अत्यन्त सुन्दर-सुन्दर मनोभावनाओं की अभिव्यक्ति की है। उनकी आत्मा ने प्रियतमा के समान ही प्रिय के लिए प्रतीक्षा की है–

"बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कू, मनि नहीं विश्राम ॥"

कबीर के अनुसार उस परम सत्ता के वास्तविक रहस्य को प्रकट करना सम्भव नहीं है। वह तो गूंगें के गुड़ की भाँति अनुभवगम्य है। कबीर ने इस भाव को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है–

"अकथ कहानी प्रेम की कछू कही ना जाय।
गूंगे केरी सरकरा खावै और मुसकाय ॥"

अथवा

पार ब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान।
कहिबे कूँ शोभा नहीं देखा ही परवान ॥"

विरह और मिलन की अनुभूतियों का जैसा प्रकाशन कबीर की वाणी में मिलता है, वैसा अन्यत्र नहीं दिखाई देती। शब्द की चोट लगते ही कबीर की आत्मा तड़प उठती है। वह अपने प्रभु से अनेक प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करती है और नाते जताती है। वह अपने आपको राम की बहुरिया बनाती है तो कहीं 'हरि जननी मैं बालक तोरा की पुकार लगाने लगती है।' कबीर की आत्मा अपने प्रिय परमात्मा से मिलने के लिए व्याकुल हो उठती है। वह मिलन सुख का मूल्य चुकाने के लिए तत्पर रहती है किन्तु मिलन कठिन है। वह विरह की लम्बी प्रक्रिया से गुजरती है। उसे प्रतीक्षा की घड़ियां असहनीय लगती हैं। इसलिए वह पुकार उठती है–

"बासुरि सुख ना रैन सुख ना सुख सपने मांहि।
कबीर बिछड़या राम सूं ना सुख धूप न छांहि ॥"

विरहिणी आत्मा प्रिय (परमात्मा) के लिए न जाने कौन-कौन से कष्ट सहन करने के लिए तत्पर रहती है। वह अपने समस्त शरीर को दीपक कर अपने प्राणों की वर्तिका बना और शरीर के रक्त का तेल बनाकर प्रियतम का मुख देखने के लिए आतुर है–

"इस तन का दीवा करौं, बाती मेल्यूं जीव।
लोही सीचौं तेल ज्यूं, कब मुख देखों पीव ॥"

दर्शन-मिलन-अभिलाषा, अधीरता, दीनता, कातरता, आत्म-निवेदन आदि भावनाओं से युक्त भक्तिपरक रहस्यवाद द्रष्टव्य है–

"हौं बलिया कब देखोंगी तोहिं।
अहनिस आतुर दर्शन कारनि, ऐसी व्यापै मोहि।
सुनहु हमारि दादि गोसाई, अब जनि करहु अधीर।
तुम धीरज मैं आतुर स्वामी, काँचे भाँडै नीर ॥"

जितनी वेदना-संवेदना भरी इस आत्मा के विरह की कहानी है, उतनी ही अधिक उल्लास उमंग भरी मिलन अनुभूति है। कबीर अपने हृदय में ही अपने प्रभु के दर्शन करते हैं।

विद्वान आलोचकों ने रहस्यवाद को दो कोटियों में विभाजित किया है–**(क) भावानात्मक रहस्यवाद, (ख) साधानात्मक रहस्यवाद**। कबीर के काव्य में दोनों प्रकार के रहस्यवाद के दर्शन होते हैं।

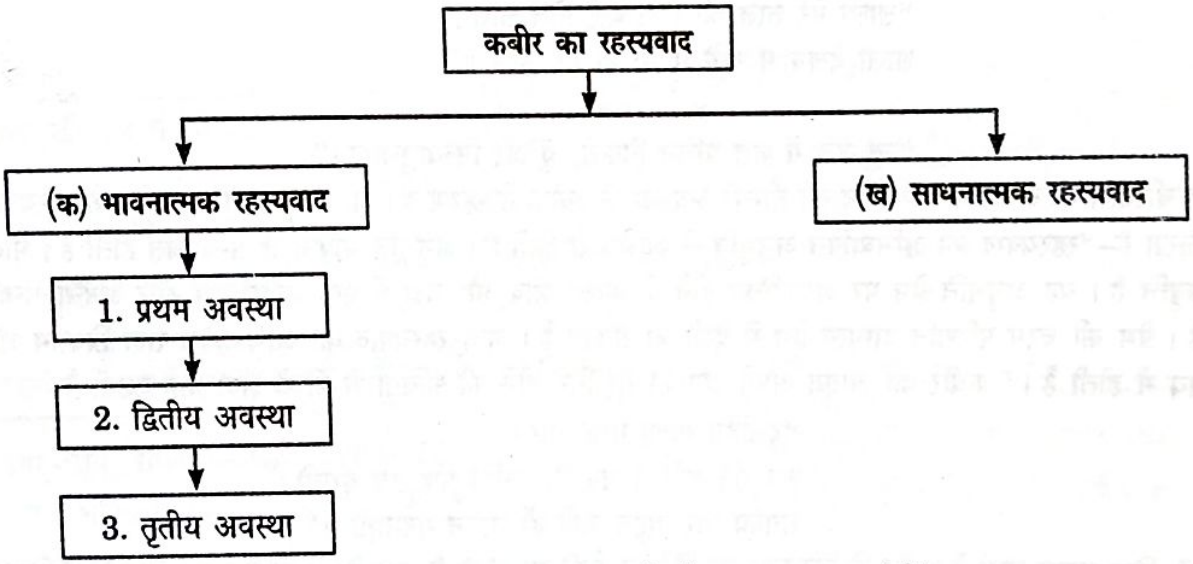

(क) भावनात्मक रहस्यवाद–कबीर के भावनात्मक रहस्यवाद की तीन प्रमुख अवस्थाएं हैं–

(1) प्रथमावस्था–प्रथमावस्था में आत्मा परमात्मा की दिव्य ज्योति के दर्शन के प्रति आकृष्ट होती है तथा उसे देखकर आश्चर्यचकित हो उठती है। कबीर भी अपने पीव (परमात्मा) के अलौकिक सौंदर्य के प्रति आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सके। वे उनके सौंदर्य पर विमुग्ध हैं। उनके लिए ईश्वर का यह सौंदर्य अवर्णनीय है। वे कहते हैं–

"कहत कबीर पुकार कै, अद्भुत कहिए ताहि।"

अतः स्पष्ट है कि भावनात्मक रहस्यवाद की प्रथमावस्था कबीर के काव्य में पूर्णतः मिलती है।

(2) द्वितीय अवस्था–द्वितीय अवस्था वह होती है, जिसमें आत्मा परमात्मा से मिलने के लिए आतुर हो उठती है। इस अवस्था में विरह-मिलन, आशा-निराशा, अभिलाषा वेदना की अत्यन्त सुन्दर अभिव्यक्ति होती है। कबीर का रहस्यवाद इस दृष्टि से बेजोड़ कहा जा सकता है। कबीर जैसी अनुभूति की तीव्रता, वेदना की पुकार और बेचैनी की गहनता अन्य रहस्यवादी कवियों के काव्य

में नहीं मिलती। कबीर ने मिलन आतुरता का जिस कलात्मकता और विरह की पीड़ा का जिस गम्भीरता से उल्लेख किया है, वह अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। कबीर कृत ये काव्य पंक्तियां देखिए–

"अँखड़ियाँ झाई पड़ी, पंथ निहारि-निहारि।
जीभड़िया छाला पड़्या, राम पुकारि-पुकारि ॥
सुखिया सब संसार है खावै और सोवै।
दुखिया, दास कबीर है जागै अरु रोवै॥"

× × × × ×

"अन्न न भावै, नींद न आवै, गृह-बन धरै न धीर रे।
कामिनि को है बालम प्यारा, ज्यों प्यासे को नीर रे।
है कोई ऐसा पर उपकारी, पिव सौं कहै सुनाए रे।
अब तो बेहाल कबीर भयो है, बिन देखे जिय न जाय रे ॥"

कबीर के प्रियतम मिलन की व्याकुलता एवं आतुरता संसार के किसी भी प्रेम व्यापार से अधिक तीव्री एवं चुटीली है। संसार के विरही जनों के विरह का भले ही अन्त होता हो किन्तु कबीर को सदा के लिए विरह झेलना है। रात्रि की समाप्ति के पश्चात् चकवी के लिए चकवे से मिल सकना सम्भव है, किन्तु कबीर के लिए दिन-रात दोनों समान हैं। इसलिए उनके विरह का न आदि है न अन्त–

"चकवी बिछुरी रैन की आइ मिली पर माति।
जो जन बिछुरे राम से ते दिन मिलै न राति ॥"

(3) तृतीय अवस्था–रहस्यवाद में तृतीय अवस्था आत्मा और परमात्मा के ऐक्य भाव की है। आत्मा परमात्मा से एकता स्थापित कर आनन्दानुभूति करती है। कबीर के काव्य में रहस्यवाद की इस तीसरी अवस्था के भी अनेक सजीव एवं मार्मिक चित्र देखे जा सकते हैं–

"लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मै गयी मैं भी हो गई लाल ॥"

× × × × ×

"ज्यू जल में जल पैसिन निकरो, यूं ढरि मिल्याजुलाहा।"

कबीरदास के काव्य में रहस्यवाद की तीसरी अवस्था के अनेक उदाहरण हैं। डॉ. त्रिगुणायत ने कबीर के रहस्यवाद को लक्ष्य करके लिखा है–**"रहस्यवाद की अभिव्यक्ति अनुभूति के आश्रय से होती है। अनुभूति भावना से सम्बन्धित होती है। भावना प्रेम की प्रधान प्रवृत्ति है। यह अनुभूति प्रेम पर अवलम्बित होने के कारण जीव और ब्रह्म में एक अविच्छिन्न और अनन्य सम्बन्ध स्थापित करती है। प्रेम की चरम परिणति दाम्पत्य प्रेम में देखी जा सकती है। अतः रहस्यवाद की अभिव्यक्ति सदा प्रियतम और विरहिणी के आश्रय में होती है।"** कबीर की आत्मा अपने आपको सुहागिन होने की भावना से ही ये शब्द कह उठती है–

"दुलहिन गावहु मंगलाचार।
तन रति करि मैं मन रति करिहैं पंच तत्त बराती।
रामदेव मोरे पाहुन आये हौं जीवन मदमाती ॥"

डॉ. शिव कुमार शर्मा ने कबीर के रहस्यवाद का विवेचन करते हुए लिखा है–**"कबीर में गंभीर रहस्य अनुभूतियों विरह-व्याकुलता, आत्मसमर्पण की उत्कंठा, प्रेमपूर्ण भक्ति, आन्तरिक प्रेम की निष्ठा, परमात्मा मिलन की उत्कृष्ट अभिलाषा, विरहिणी के विरह-पेशल हृदय की नाना स्थितियों के अत्यन्त हृदयग्राही कलात्मक चित्र उपलब्ध होते हैं, जिनमें भावनात्मक रहस्यवाद का आदर्श अपनी पूर्णता को प्राप्त हो गया है।"**

(ख) साधनात्मक रहस्यवाद–कबीर के काव्य में भावनात्मक रहस्यवाद के साथ-साथ साधनात्मक रहस्यवाद भी देखा जा सकता है। सन्त सम्प्रदाय का विकास योगियों के नाथ सम्प्रदाय से हुआ है। इसलिए कबीर पर योगियों एवं हठयोग का प्रभाव है। इनके साहित्य में इंगला, पिंगला, सुष्मुना, षट्दल, त्रिकुटी, ब्रह्मरन्ध्र सूर्य और चन्द्र आदि हठयोगि के पारिभाषिक शब्द मिलते हैं जिनसे आत्मा और परमात्मा की एकता का उद्घाटन किया गया है, यथा–

"गगन गरजै अभी बादल गहिर गम्भीर।
चहुदिसि दमके भीजै दास कबीर ॥"

इसी प्रकार– "झीनी-झीनी बीनी चदरिया।"

कबीरदास ने अपने काव्य में उलट बांसियों का सफल प्रयोग करके रहस्य चेतना को अभिव्यक्त किया है। उन्होंने लिखा है–

"बरसै कम्बल भीजै पानी।"

कबीर की रहस्यभावना और शंकर का अद्वैतवाद–शंकर ने आत्मा और परमात्मा के मिलन में माया का प्रबल अवरोध स्वीकार किया है। वैसे ही कबीरदास ने भी आत्मा और परमात्मा के बीच माया को बाधक बताया है। कबीरदास ने माया को महाठगिनी' कामिनी व कनक कहकर भर्त्सना की है। शंकर के अद्वैतवाद की भांति ही कबीरदास ने आत्मा और परमात्मा को एक बताया है–

"जल में कुम्भ-कुम्भ में जल है भीतर बाहर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यह तत्त कहौ गयानी॥"

कबीरदास ने अपनी रहस्यवादी भावना को स्पष्ट करने के लिए रूपकों एवं अन्योक्तियों का भी सफल प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित काव्य-पंक्तियाँ देखिए–

"हंसा प्यारे सरवर तजि कहां जाय।
जोहि सरवर बिच मोती चुनते बहु विध केलि कराय।"

× × × × ×

"सन्तो भाई आयी ज्ञान की आंधी।
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी माया रहे न बांधी॥"

अतः उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि कबीरदास के काव्य में प्रेम मूलक, अनुभूतिपरक, साधनात्मक आदि रहस्यवादी चेतना का वर्णन मिलता है। प्रेममूलक या प्रेमात्मक रहस्यवाद में ही कबीर की मौलिक उद्भावनाओं के दर्शन होते हैं। चाहे कुछ भी हो कबीर ही हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ रहस्यवादी कवि ठहरते हैं। इस तथ्य को सभी विद्वानों ने एक स्वर में स्वीकार किया है।

◆◆◆

4. कबीर के राम

4. कबीर की राम संबंधी अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

अथवा

"दशरथ सुत तिहु लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना।"
इस पंक्ति के संदर्भ में कबीर के राम संबंधित विचारों पर प्रकाश डालिए।

अथवा

"कबीर के राम निर्गुण-निराकार होते हुए कण-कण में व्याप्त हैं।"–इस कथन की पुष्टि कीजिए।

उत्तर–'राम' संबंधी अवधारणा–कबीरदास महान संत कवि हैं। इन्होंने अपने काव्य में राम का मनोरम चित्रण किया है। इन्होंने अपनी भक्ति-भावना का मूल आधार बनाया। कबीर के 'राम' सगुण कवियों के राम से अलग हैं। कबीर के 'राम' मूलतः भारतीय विचारधारा से मेल खाते हैं।

'राम' अथवा ब्रह्म की चर्चा प्राचीनकाल से ही भारतीय मनीषियों द्वारा की जाती रही है। कुछ ग्रंथों में ब्रह्म सगुण (सविशेष) बताया गया है तथा कुछ ग्रंथों में उसे निर्गुण (निर्विशेष) कहा गया है। उपनिषद् ग्रंथों में तो ब्रह्म के सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों पर चर्चा की गई है। सगुण को अपर ब्रह्म' की संज्ञा दी गई है जबकि निर्गुण ब्रह्म को 'परब्रह्म' कहकर पुकारा गया है। सगुण ब्रह्म को उसके आकार, रूप, गुणों, चिह्न, विशेषण आदि के द्वारा जाना जा सकता है किन्तु निर्गुण किसी चिह्न व विशेषण आदि के द्वारा नहीं पहचाना जा सकता। श्वेताश्वतरोपनिषद् में निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है–

"एको देवा सर्व भूतेषु गूढ़ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
धर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता च केवलो निर्गुणश्च।।"

अतः स्पष्ट है कि इस उपनिषद् में सभी प्राणियों में अन्तर्निहित, सर्वव्यापी, सभी कार्यों का अधिष्ठाता, सभी प्राणियों का अधिवास करने वाला, साक्षी व चेतना प्रदान करने वाला और सभी गुणों से परे देव को निर्गुण कहा गया है। उपनिषद् साहित्य में सगुण व निर्गुण ब्रह्म के अन्तर को स्पष्ट करने हेतु ही तत् तथा सः पदों का प्रयोग किया जाता है। अतः कहा जा सकता है कि कबीर के आगमन से पूर्व ही निर्गुण राम को 'परब्रह्म' कहने की लम्बी परम्परा रही है। कबीर ने भी निर्गुण राम अथवा परब्रह्म को ही अपनी भक्ति अथवा विचारधारा का केन्द्र बनाया है। कबीर ने अपने राम को किस-किस में पहचाना है तथा उसका वर्णन किया है, का सविस्तार अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

कबीर के राम–

कबीर निर्गुण राम के उपासक थे। उन्होंने परब्रह्म को 'राम' के नाम के अतिरिक्त अन्य कई नामों से पुकारा है। वे अपने परब्रह्म को हरि, केशव, गोविंद, माधव, नारायण, महादेव, गोपाल, करीम, सहज, शून्य आदि नामों से पुकारते थे। इनमें से अधिकांश नाम सगुण ईश्वर के हैं। कबीर द्वारा प्रभु को इन नामों से पुकारने के पीछे अनेक कारण रहे होंगे किंतु मुख्य कारण यह था कि वे अपने परब्रह्म के प्रचार-प्रसार के लिए अनेक स्थानों पर जाते थे। जिस भी स्थान पर वे जाते थे वहाँ की संस्कृति, धर्म, समाज में ईश्वर को जिस नाम से पुकारा जाता था, वे वहां उसी नाम से परब्रह्म को पुकारते थे दूसरा प्रमुख कारण यह था कि जिस धर्म या समुदाय के लोगों को अपनी सत्यानुभूति से अवगत कराना चाहते थे। तब उसी धर्मादि की भाषा का प्रयोग करते थे। इसलिए एक ही परब्रह्म के लिए उन्होंने विविध नामों का प्रयोग किया है। अतः स्पष्ट है कि भले कबीर ने परब्रह्म के लिए अनेक नामों का प्रयोग किया हो किंतु वे सब एक ही तत्त्व या परब्रह्म के द्योतक हैं। उन्होंने परब्रह्म के लिए सबसे अधिक 'राम' नाम का प्रयोग किया है।

कबीर का मत है कि ईश्वर निर्गुण, निराकार एवं सर्वत्र व्याप्त है। वह कोई अवतार या महापुरुष नहीं है। उन्होंने यह भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि उनका 'राम' या ब्रह्म तो अविगत, अजन्मा एवं अलक्ष्य है। उनका ब्रह्म सगुण एवं निर्गुण दोनों से परे है–

"निर्गुण सगुण से परे तहाँ हमारा ध्यान।"

कबीर ने अपने आराध्य 'राम' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए अनेक बार कहा है कि उसका न तो कोई रूप है, न आकार, न रंग, न देह। वह केवल निरंजन है। उसके रूप-रंग, मुद्रा व माया कुछ भी तो नहीं है। कबीर ने वेदों के समान नेति-नेति पद्धति का पालन करते हुए कहा है वह न तो समुद्र है, न पर्वत, न धरती है, न आकाश, न सूर्य, न चंद्र, न पानी, न पवन, न नाद है न बिन्दु, न काल है न काया, न जप है न तप। वह योग ध्यान या पूजा कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार वह न शिव है, न, शक्ति, न कोई अन्य देवता, वेद या व्याकरण भी नहीं है। वह तो ऐसा है जैसा जल में बिम्बित छाया है। जब यह जगत नहीं था वह तब भी था–

"गोव्यदें तू निरंजन तू निरंजन तू निरंजन राया।
तेरे रूप नहीं देख नाहीं, मुद्रा नाही माया।।
समद नहीं सिषर नाहीं, धरती नाहीं गगना।
रवि ससि दोउ एकै, नाही बहत नाही पवना।।"
नाद नांही, ब्यंद नांही, काल नाहीं काया।
जल तै जल ब्यंब न होते, तब तूं ही राम राया।।
जप नाहीं तप नाहीं, जोग ध्यान नहिं पूजा।
सिव नाही सकती नाहीं, देव नहिं दूजो।।
रुग न जग न श्याम अथरवन, वेद नहीं ब्याकरनां।
तेरी गति तूंही जाने, कबीर तो सरना।।"

इस काव्य पंक्तियों से स्पष्ट है कि कबीर के राम दशरथ सुत राम नहीं हैं। वे अनादि, अनंत और निर्गुण हैं। कबीर का 'राम' सबसे अलग है। किंतु सब में समाया हुआ है। वह सबका कर्त्ता भी है और अपनी कृति (रचना) में समाया हुआ भी रहता है–

"लोगा भरमि न भूलहु भाई।
खालिक खलक खलकु महि, खालिक पूरे रह्यो सब ठाई।

माटी एक अनेक भांति करि साजी साजन हारे।
न कछु पोच माटी के भाणे, न कछु पोय कुंभारे।
सब महि सच्चा एको सोई, जिसका किया सब किछु होई।।"

कबीर के राम सांसारिक आवागमन के बंधन से मुक्त हैं। उसके माता-पिता, भाई आदि सगे-संबंधी भी नहीं हैं व सांसारिक रूप एवं व्यवहार से परे हैं। उन्मनावस्था द्वारा उसे कोई भी प्राप्त कर सकता है। उसके आदि मध्य व अंत का किसी को बोध नहीं है। कबीर के यह राम सभी के हृदय में विद्यमान हैं–

"नां सो आवैना सो जाई, ताके बंध पिता नहीं माई।
चार विचार कछू नहीं वाकै, उनमनि लागि रहौ जताकै।
को है आदि कविन का कहिये, कवन रहनि वाका ह्वै रहिये।
कहे कबीर विचार करि, जिनि को खोजै दूरि।
ध्यान धरौ मनसुध करि, राम रह्या भरपूरि।।"

कबीर के राम अज्ञेय हैं। उनकी गति लक्षित नहीं की जा सकती। चारों वेद, स्मृतियां, पुराण, व्याकरण आदि कोई भी उसका मर्म नहीं जानते।

"निरगुण राम निरगुण राम जपहुं रे भाई।
अविगति की गति लिखी न जाई।।
चारि वेद जाकें सुमृत पुराना।
नौ व्याकरण मरम न जानां।।"

कबीर का मत है कि उसका ब्रह्म या 'राम' संपूर्ण सृष्टि का निर्माणकर्ता है तथा संपूर्ण सृष्टि के विनाश का कारण भी वही है। कबीर ने अपने इस मत को जल एवं बर्फ के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है–

"पानी ही ते हिम भया, हिम ही गया विलाय।
कबीर जो था सो भया, अब कुछ कही न जाय।।"

सृष्टि का निर्माता होने के साथ-साथ वह ब्रह्म पूर्ण निराकार, रूपविहीन, निर्लिप्त है। संपूर्ण सृष्टि के अणु-प्रति अणु में व्याप्त होकर भी हर घट में निवास करता है–

"शरीर सरोवर भीतर आछै कमल अनूप।
परम ज्योति पुरुषोत्तम, जाके रेख न रूप।।"

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कबीर के राम अवर्ण, निर्गुण, निराकार, अनादि, अनंत हैं। जब वे स्वयं उसे समझने या समझाने में अपने आपको असमर्थ पाते हैं। तब वे कह सकते हैं–

"जस तू तस तोहि, कोई न जान,
लोग कहैं सब, आनहिं आन।।"

कबीर के 'राम' तेज युक्त हैं। उसका तेज सूर्यों की माला के तुल्य प्रतीत होता है। वह स्वयं प्रकाश स्वरूप है। उसका यह तेज कैसा है? इसका वर्णन करना असंभव है। यह कथन का विषय नहीं अपितु अनुभव का विषय है क्योंकि स्वयं देखने पर ही ज्ञात होता है–

"पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिये कू सोभा नहीं, देख्या ही परवान।।"

कबीर का राम पिंड और ब्रह्मांड में सर्वत्र व्याप्त है। वह सत्य स्वरूप है और उसने ब्रह्मांड में अपनी लीला का विस्तार कर रखा है। वह एक बाजीगर के समान स्वांग रचता है, जब चाहता है तभी उस स्वांग को त्याग कर अपने रंग में रंग जाता है। यथा–

"बाजीगर डंक बजाई, सब खलक तमासे आई।
बाजीगर स्वांग सकेला, अपने रंग रमै अकेला।।"

कबीर के राम का संबंध किसी एक धर्म या समुदाय के लोगों से नहीं अपितु वह संसार के सभी धर्मों या समुदायों के लोगों से संबंधित है। कबीर का राम सभी का है–

"हमारे राम रहीम करीमां कैसो अलह राम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई।।"

कबीर का राम यद्यपि निर्गुण, निराकार एवं घट-घट व्यापी है किंतु कुछ स्थलों पर कबीर ने उसे सगुण रूप में स्वीकार किय है। कबीर को उसने जन्म मरण के चक्कर से मुक्त कर दिया है। इसलिए कबीर उसे 'कृपालु' कहकर पुकारते हैं–

"जरा मरण थैं भये थीर।
राम कृपा भई कहि कबीर।।"

यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कबीर ने राम को निर्गुण माना है किंतु वे उसके सगुण स्वरूप से अछूते नहीं रहे हैं, उसक सगुण राम की स्वीकृति निम्नांकित पंक्तियों में देखी जा सकती है–

"संतो घोखा का सो कहिये।
गुण में निर्गुण निर्गुण में गुण है, बाट छांड़ि क्या बहिए।।"

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कबीर का राम अधिकांशतः अद्वैती स्वरूप निर्गुण, निराकार और निरूपाधि है किंतु उसमें कहीं-कहीं सगुण भावनाओं के लिए भी स्थान है।

◆◆◆

5. कबीर की प्रासंगिकता

5. कबीर साहित्य की आधुनिक संदर्भ में विचारधारा पर प्रकाश डालिए।

अथवा

"कबीर वाणी आज भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी उनके युग में थी'–इस कथन की विवेचना कीजिए।

अथवा

कबीर की वाणी की प्रासंगिकता पर एक सारगर्भित निबन्ध लिखिए। **(Most Imp.)**

अथवा

कबीर साहित्य के महत्त्व पर प्रकाश डालिए। **(M.D.U. Aug. 2021)**

उत्तर–1. कबीर की प्रासंगिकता–कबीर साहब एक ऐसे महामानव थे, जिन्होंने अपने युग के अन्धकार से आच्छादित वातावरण में ज्ञान की आभा प्रदान की तथा मानवता का मार्गदर्शन किया। उनके द्वारा किया गया मार्गदर्शन मानवता के लिए आज भी उतना हितकारी एवं ग्राह्य है जितना उनके समय में था। कबीर का युग महान् संघर्षमय था। समाज विशृंखलित होता जा रहा था। उस समय उत्तर भारत में हिन्दू और मुसलमान दो ही बड़ी जातियाँ निवास करती थीं। इन दोनों ही जातियों में अपने धर्म, रीति-रिवाज, उपासना आदि में कट्टरता थी। फलस्वरूप दोनों जातियों के लोग आपस में लड़ते रहते थे। कोई भी अपने आपको कम नहीं समझती थी। किसी प्रकार का समझौता भी उन्हें पसन्द नहीं था।

भारतीय समाज उस समय पतन की ओर अग्रसर था। हिन्दू और मुसलमान दोनों के बाह्याडम्बरों का बोलबाला था। इसके साथ ही दो विभिन्न जातियों के तत्कालीन राजनीतिक संघर्ष के कारण समाज अव्यवस्थित सा हो गया। विधर्मी शासक होने के कारण तलवारें हिन्दुओं के खून की प्यासी रहती थीं। हिन्दू राजा व समाज उस समय निराशा के सागर में डूब व तैर रहा था। राष्ट्र धर्म के लिए उनके हृदय में स्नेह जीवित था।

हिन्दू और इस्लाम धर्मों के ठेकेदार भोली-भाली जनता को मिथ्याडम्बरों में फंसाए रखते थे और अपने-अपने मत की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए मनोमालिन्य, ईर्ष्या-द्वेष एवं वैमनस्य को आश्रय देते थे। फलस्वरूप दोनों सम्प्रदायों के लोगों में धार्मिक विषमता चरम सीमा तक पहुँच गई थी। समाज में जाति-पाति का भेदभाव पूर्णरूप से व्याप्त था। कुप्रथाओं और कुरीतियों की धार्मिक अव्यवस्था फैली हुई थी। धार्मिक नेता वर्ग तो कठिन से कठिन साधना विधियों को प्रचलित करना ही अपना कर्त्तव्य समझ रहे थे। इसी प्रकार राजा या सामन्त वर्ग अपने कर्त्तव्य से विमुख था। अपनी प्रजा के हित का कोई कार्य नहीं करता था। उसे केवल अपनी विलासिता और धन-दौलत व अधिकार के सिवाय कुछ नहीं सूझता था।

ऐसे संक्रांति-युग अथवा पतित युग में कबीरदास का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने एक सच्चे साधक व कवि के रूप में अपने युग की परिस्थितियों का अध्ययन किया और समाज में विभिन्न स्तरों पर व्याप्त विषमताओं को अनुभव किया। कबीरदास एक निडर, दबंग और फक्कड़ व्यक्ति थे। उन्होंने धर्म के नाम पर होने वाले पाखण्ड व बाह्याडम्बरों का खण्डन किया और धर्म की

दृष्टि से एकता स्थापित की। कबीर की एकता मानवीय स्तर की एकता थी। उन्होंने काजी और ब्राह्मण जो उस समय के समाज के प्रमुख कहे जाते थे, उनको उनके कर्त्तव्य का बोध करते हुए सचेत किया–

सो हिन्दु सो मुसलमान जा धर्म रहे ईमान।
सो ब्राह्मण जो कहे ब्रह्मगियान, काजी जो जाने रहिमान।

अथवा

भूला भरमि परै जो कोई।
हिन्दु तक झूठ कुल दोई।।

आज भी समाज में सामाजिक व धार्मिक स्तर पर विकृतियां फैली हुई हैं। अंधविश्वास के कारण लोगों को झाड़-फूंक, तागे-ताबीज के चक्कर में फंसा कर खूब लूटा जा रहा है। ऐसे पाखण्ड से बचने के लिए कबीर की वाणी की प्रासंगिकता सिद्ध है। आज भी यत्र-तत्र पशुबलि व मानव बलि की घटनाएं घटित होती रहती हैं जिससे समाज में एक आतंक-सा या भय-सा समा जाता है। ऐसी बलि प्रथा कबीर के युग में भी थी। कबीरदास ने ऐसे लोगों को समाज का दुश्मन बताया है और उन्हें फटकारते हुए कहा है–

साधो पाण्डे निपुन कसाई।
वाकी मारी भेड़ि को धाये, दिल से दरद न आई।
× × × × ×
इनसे बिच्छा सब कोई मांगे, हंसि आवै मोहि भारी।

कबीर की विचारधारा की प्रासंगिकता को हम निम्नलिखित बिंदुओं के माध्यम से स्पष्ट कर सकते हैं–

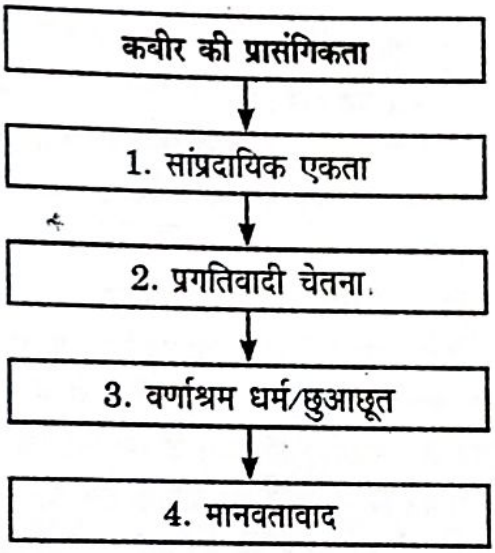

1. साम्प्रदायिक एकता–कबीर के युग में हिन्दू और मुसलमान दो सम्प्रदाय मुख्य रूप से समाज में विद्यमान थे। ये दोनों कभी धर्म के नाम पर, तो सत्ता के नाम पर तो कभी झूठी प्रतिष्ठा के नाम पर या एक-दूसरे को नीचा दिखाने के नाम पर लड़ते-झगड़ते रहते थे। फलस्वरूप समाज में विशृंखलता व्याप्त थी। समाज टूट रहा था। जनसाधारण का जीवन बद से बदतर होता जा रहा था। समाज में ईर्ष्या-द्वेष, साम्प्रदायिक भेदभाव और अशांति थी। कबीरदास ने एक सच्चे समाज सुधारक व सच्चे मानव के नाते समाज में व्याप्त साम्प्रदायिक भावना को गहराई से देखा, परखा और अनुभव किया और इस निष्कर्ष पहुँचे कि जब तक इसके पीछे चल रहे कारणों को समाप्त न किया आए तो ऊपरी तौर पर किये गए उपाय अधिक कारगर सिद्ध नहीं होंगे। उन्होंने दोनों सम्प्रदाय के लोगों को बताया कि सब का ईश्वर एक है। सभी का खून लाल है। फिर यह भेद कैसा और जब भेद नहीं है तो फिर लड़ाई-झगड़ा, मारकाट सम्प्रदाय के नाम पर क्यों की जाती हैं। साम्प्रदायिक भावनाओं को भड़काने वाले लोगों की खबर लेते हुए कबीरदास जी कहते हैं–

जे तू बामन बामनि का जाया। आन बाट है क्यों नहिं आया।
जे तूं तुरक तुरकनि जाया तौ भीतरि खतना क्यों न कराया।

कबीर वाणी में साम्प्रदायिक एकता पर विस्तार रूप में प्रकाश डाला गया है। डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस संबंध में लिखा है–

"जो लोग हिन्दू-मुस्लिम एकता के व्रत में दीक्षित हैं वे भी कबीरदास को अपना मार्गदर्शक मानते हैं। यह उचित भी है। राम रहीम और केशव करीम की जो एकता स्वयं सिद्ध है उसे भी सम्प्रदाय बुद्धि से विकृत मस्तिष्क वाले लोग नहीं समझ पाते। कबीरदास से अधिक जोरदार शब्दों में एकता प्रतिपादन किसी ने नहीं किया। पर जो लोग उत्साहधिक्यवश कबीर को केवल हिन्दू-मुस्लिम एकता का पैगंबर मान लेते हैं, वे उनके मूल स्वरूप को भूलकर, उसके एक देशमात्र की बात करने लगते हैं। ऐसे लोग यदि यह देखकर क्षुब्ध हों कि कबीरदास ने दोनों धर्मों की ऊँची संस्कृति या दोनों धर्मों के उच्चतर भावों में सामंजस्य स्थापित करने की कहीं भी कोशिश नहीं की और सिर्फ यही नहीं, बल्कि उन सभी धर्मगत विशेषताओं की खिल्ली ही उड़ाई है जिसे मजहबी नेता बहुत श्रेष्ठ धर्माचार कहकर व्याख्या करते हैं।"

कबीर की कुछ विद्वान आलोचना भले करें किन्तु उनके द्वारा साम्प्रदायिक सद्भाव की स्थापना से इन्कार नहीं कर सकते। विरोधी भी कबीर की इस बात को स्वीकार करते हैं। आज के युग में भी साम्प्रदायिक एकता के लिए कबीर की ये पंक्तियां उतनी ही सार्थक सिद्ध हैं जितनी उनके युग में थीं–

"अला एकै नूर उपनाया, ताकि कैसी निंदा।
ता नूर थै सब जग कीया, कौन भला, कौन मंदा।

कबीरदास की ये पंक्तियां आज के युग में साम्प्रदायिक दंगे फैलाने वाले लोगों और साम्प्रदायिक भावना में बहकर बेकसूर और भोले-भाले लोगों को कबीर का यह उपदेश सुनाना चाहिए। इसी प्रकार आज जातिगत भेदभाव उत्पन्न करके वोट बटोरने वाले नेताओं और उनके बहकावे में आने वाली भोली-भाली जनता को सही मार्ग पर लाने के लिए कबीरदास की ये पंक्तियां अत्यन्त सार्थक सिद्ध हो सकती हैं–

"जाति-पांति पूछे नहिं कोई।
हरि कौ भजै सो हरि का होई।।

अतः स्पष्ट है कि कबीर की दृष्टि में हिन्दू-मुसलमान व अन्य धर्मों से संबंधित लोग समान थे। वे विभिन्न सम्प्रदायों के बीच समानता, एकता व सद्भाव स्थापित करके समाज को मजबूत व स्वस्थ बनाना चाहते थे। वे दोनों सम्प्रदायों के लोगों में व्याप्त बुराईयों के लिए समान रूप से प्रताड़ित करते थे–

"बुत पूजि पूजि हिन्दू मुए, तुरूक मरे हज जाई।"

अतः आज के साम्प्रदायिक तनाव को देखते हुए कबीर की साम्प्रदायिक सद्भावना व एकता की भावना अत्यंत प्रासंगिक है। साम्प्रदायिक संकीर्णता व तनाव के कारण आज देश की स्वतंत्रता कभी खतरे में पड़ गई है। आज के युग में इन परिस्थितियों को देखते हुए कबीर का काव्य अत्यंत प्रासंगिक है। भारतीय संविधान के अनुसार यहां लोकतन्त्रीय शासन पद्धति की स्थापना की है तथा धर्म निरपेक्ष राष्ट्र का गठन भी किया गया। किन्तु आज राजनीतिक दल संविधान व राष्ट्र की भावना को ताक पर रखकर अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए साम्प्रदायिक भावना को बढ़ावा दे रहे हैं। इन परिस्थितियों में कबीर के काव्य में व्यक्त साम्प्रदायिक चेतना अत्यन्त प्रासंगिक एवं सार्थक है।

2. प्रगतिवादी चेतना–कबीर अपने युग के प्रगतिवादी कवि थे। उन्होंने समाज में व्याप्त बुराईयों एवं राजाओं व सामंतों द्वारा गरीबों के शोषण का विरोध किया। आज के युग में सम्पूर्ण समाज तीन वर्गों में विभाजित हैं–प्रथम पूंजीवादी वर्ग है जिसमें उद्योगपति, व अन्य अमीर लोग आते हैं। यह सम्पूर्ण वर्ग दूसरों का शोषण करता है। इसके पास जीवन की सभी सुख-सुविधाएं हैं। यह विलासिता का जीवन व्यतीत करता है। यहां तक कि सत्ता वर्ग या शासक वर्ग भी इसी वर्ग के हाथों विका हुआ है। दूसरा वर्ग मध्यवर्ग है। यह वर्ग सदा दुविधाग्रस्त रहता है। अपने से नीचे वाले वर्ग के साथ समझौता नहीं कर सकता और सदैव उच्च वर्ग की ओर देखता है। किन्तु वहां पहुँच नहीं सकता। यह वर्ग दिगूभ्रान्त रहता है। तीसरा वर्ग निम्न वर्ग है। इस वर्ग की आर्थिक दशा अच्छी नहीं है। इसे रोटी जुटाने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। अनपढ़ता के कारण यह वर्ग अन्धविश्वास में भी फंस जाता है। कबीर के युग में भी पहला वर्ग सामन्ती वर्ग था जो सुखद जीवन व्यतीत करता है। दूसरे वर्ग में किसान, मजदूर, कारीगर आदि लोग थे। पहला वर्ग उपभोक्ता था और दूसरा वर्ग उत्पादक। कहने का भाव है कबीर के युग में किसान, कारीगर, मजदूर आदि वस्तुओं का निर्माण करते थे। अन्न उत्पन्न करते थे और पहला वर्ग उन वस्तुओं का उपभोग करता था। कबीरदास स्वयं जुलाहा जाति से संबंध रखते थे और कपड़ा बुनने का काम करते थे। कबीरदास ने सामन्त वर्ग का विरोध किया और दूसरे

के लोगों के प्रति सहानुभूति व्यक्त की। इस प्रकार कबीरदास ने शोषित वर्ग को प्रगति का आधार प्रदान किया। इस दृष्टि कबीर बहुत बड़े प्रगतिवादी कवि थे। आज भी पूंजीवादी व्यवस्था में कामगार, मजदूर, किसान व गरीब लोगों को भरपूर शोषण रहा है। इस संदर्भ में भी कबीर की वाणी प्रासंगिक है।

3. वर्णाश्रम धर्म/छुआछूत–कबीरदास ने अपने युग की उन सब सामाजिक विसंगतियों पर करारी चोट की है जो समाज के कास में बाधक थीं। उन्होंने वर्णाश्रन, धर्म का कड़ा विरोध किया क्योंकि इसी के कारण कुरीतियाँ, धार्मिक पाखण्ड, छुआछूत, च-नीच आदि की भावनाओं को ठोस आधार मिल रहा था। कबीर योग्यता के अनुसार समाज के व्यक्ति का स्थान निश्चित ने के पक्ष में थे न कि जन्म के आधार पर। कबीर के जीवनकाल में समाज का एक बड़ा वर्ग राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक र सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ चुका था। कबीर ने इसी वर्ग का पक्ष लिया और जिन कारणों से समाज का यह बड़ा भाग पिछड़ का था, उन पर कबीरदास ने अपने काव्य में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला और उनका विरोध भी किया है। आज भी सत्ता में छ ही लोग आगे रहते हैं। पीढ़ी-दर-पीढ़ी सत्ता में बने रहते हैं। इसी प्रकार अन्य उच्च पदों पर लोग रिश्वत देकर पहुँच जाते गरीब किन्तु योग्य व्यक्ति देखता रह जाता है। योग्यता के अनुसार, पद न मिलने के कारण कुण्ठित हो जाता है। बेरोजगारी, ई-भातीजावाद, अत्याचार अन्याय आदि सबका देश के विशाल समूह को सामना करना पड़ता है। वे सब अभावग्रस्त जीवन ने के लिए मजबूर हैं। कबीरदास ने अपने युग के तथाकथित उच्च वर्ग व सवर्ण जाति के लोगों को फटकारते हुए कहा था–

काहे को कीजै पाण्डे छोति विचारा।
छोतिहि ते उपना संसारा।।
हमारे कैसे लोहू तुम्हारे कैसे दूध।
तुम कैसे बामन पाण्डे हम कैसे शूद्र।
छोति छोति करता तुम ही जाए।
तो गर्भ काहे को आए।

4. मानवतावाद–कबीर के काव्य में हिन्दू धर्म में व्याप्त बुराईयों पर तथा समान रूप से मुस्लिम धर्म के आडम्बरों पर जम र प्रहार किया गया है। इसलिए दोनों धर्मों के लोगों ने कबीर की आलोचना की थी। वस्तुतः उन लोगों ने कबीर की भावनाओं ी समझा ही नहीं था। कबीर किसी धर्म के विरुद्ध नहीं अपितु वे धर्म में आई बुराइयों के विरुद्ध थे। उन्होंने उन बुराइयों को र करके धर्म के वास्तविक रूप को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया था। कबीर के अनुसार मानव-मानव में कोई भेद नहीं है। सलिए उन्होंने सामाजिक व धार्मिक विसंगतियों का विरोध करके मानव एकता का संदेश दिया है। कबीर के काव्य में मानवतावादी र्म का प्रचार किया गया है जिसमें बिना किसी भेदभाव के सबको समान समझा जाता है। उन्होंने दलित व अछूत समझे जाने ाले लोगों के लिए भक्ति के मार्ग खोल दिए। कबीर का यह कदम वास्तव में क्रान्तिकारी था क्योंकि प्राचीनकाल से जिन्हें मंदिर प्रवेश व भक्ति करने का अधिकार नहीं था अब वे बिना किसी भेदभाव के ईश्वरोपासना करके अपना आत्मिक या आध्यात्मिक विकास कर सकेंगे। इतना ही नहीं उन्होंने अपने युग के धर्म के तथाकथित ठेकेदार व मानवता के शत्रु काजी, मुल्ला, पंडित, रोहित आदि को फटकारा और राम-रहीम, अल्ला-ईश्वर की एकता का उपदेश भी दिया। उनका कथन है–

क्या उजूँ जप-संजम कीएँ क्या मसीति सिरू नाएँ।
दिल महिं कपट निमाज गुजारें क्या हज कावै जाएँ।।
बाह्मान ग्यारसि करै चौबीसो काजी मोह रमजाना।
ग्यारह मास कहां क्यूँ खाली एकहि मास नियाना।।
जौ रे खुदाइ मसीति बसतु है और मुलुक किस केरा।
तीरथ मूरति राम निवासी दुहु महिं किनहुं न हेरा।।
पूरब दिशा हरिहि कर बासा पाच्छिम अलह मुकामां।
दिल मेहि खोज दिलै दिलि खोजहु इहइं रहीमां-रामां।।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कबीरदास अपने युग के महान् संत, दार्शनिक, कवि और समाज सुधारक और मानवता के समर्थक थे। उन्होंने अपने युग के जीवन का सुधार करने का यथासंभव प्रयास किया और मानवीय एकता की स्थापना की। "उनके पास अवांछनीय तत्त्वों को नष्ट करने के लिए सत्य की शक्ति थी, सदाचरण का साहस था तथा व्यंग्ययुक्त वाणी जिस। ...वे जन-जन को संदेश कर उनके दोषों को प्रकट कर समाज को समयोचित मंगलकारी मार्ग पर ले गए।" आज के युग

में व्याप्त भ्रष्टाचार, लालच, लोभ, अमानवीय भावना, अन्ध विश्वास, निर्धनता आदि का समाधान कबीर की वाणी में ढूँढा जा सकता है। कबीरदास से ज्यादा जोरदार शब्दों में मानव एकता का प्रतिपादन किसी ने नहीं किया। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें तत्कालीन समाज का सफल वैद्य कहा है जिसने समाज की नाड़ी को पकड़कर उसके रोग को पूर्णतः समझा और उसको दूर करने के उपाय बताए। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है, "उन्होंने रोग का ठीक निदान किया था या नहीं, इसके दो मत हो सकते हैं, पर औषध-निर्वाचन में और अपथ्य-वर्जन के निर्देश में उन्होंने कोई गलती नहीं की। यह असंदिग्ध है।" कबीर की वाणी से सरल, सात्विक जीवन, सदाचरण तथा पारस्परिक सद्भाव और मानवीय एकता की प्रेरणा मिलती है। आज के युग में ये उदात्त मानवीय गुणों का अभाव होता जा रहा है। इसलिए कबीर की वाणी ही आज के युग में पूर्णतः प्रासंगिक है।

◆◆◆

6. कबीर के काव्य रूप

6. कबीर काव्य के रूप का विवेचन कीजिए। **(M.D.U. Aug. 2021) (P.)**

अथवा

कबीर के काव्य रूप पर सारगर्भित निबंध लिखें।

उत्तर–कबीर काव्य का रूप–कबीरदास पंथ-प्रवर्तक, संत, कवि, भक्त, विचार, समाज सुधारक के रूप में जाने जाते हैं। जितना मत वैभिन्य उनके जीवन के विषय में है, उतना ही विवाद उनके साहित्य को लेकर भी बना हुआ है। कबीर पंथ या कबीर के भक्त लोग उनके प्रति अथाह श्रद्धा रखते हैं। कबीर-पंथ के कुछ अनुयायियों का मत है कि 'सतगुरु की बानियों का कहीं अंत नहीं है।' किन्तु कबीर की समझी जानेवाली सभी रचनाओं के विषय, भाषा, वर्णन-शैली में एकरूपता का अभाव है। इसलिए उनकी रचनाओं के विषय में विद्वानों में काफी मत-वैविध्य है। नये-नये शोधों द्वारा कबीर के साहित्य के विषय में जानकारी प्राप्त की जा रही है। जिन रचनाओं के वर्ण्य विषयों में कबीर के उत्तरवर्ती घटनाओं या व्यक्तियों का उल्लेख है, वे निश्चित ही कबीर द्वारा रचित नहीं हो सकती। उन्हें व्यर्थ ही कबीर की रचनाओं में जोड़ दिया गया है। कबीर की वास्तविक रचनाओं की संख्या और उनके स्वरूप आदि पर वैज्ञानिक ढंग से विचार किया गया है।

विभिन्न विद्वानों ने कबीर की रचनाओं की संख्या अलग-अलग बताई है। श्री एच.एच. विल्सन ने कबीर कृत आठ रचनाएँ बताई हैं। श्री वेस्टकाट ने कबीर रचनाओं की संख्या बयासी बताई है। मिश्र बंधुओं ने पचहत्तर तथा डॉ. रामकुमार वर्मा ने सत्तासी बताई हैं। किन्तु डॉ. रामकुमार वर्मा ने कबीर की स्वतंत्र रचनाओं की संख्या छप्पन मानते हैं। उनका मत है कि 'बहुत सारी रचनाओं को उनकी प्रशंसा में ही सम्मिलित कर दिया गया है" डॉ वर्मा के अनुसार कबीर वाणी अत्यधिक विश्वसनीय अतः ग्रंथ सम्पादित साहब ही अधिक प्रामाणिक है। यदि नागरी प्रचारिणी सभा की रिपोर्ट को आधार बनाया जाये तो उनकी संख्या एक सौ तीस के लगभग पहुँच सकती है। इस प्रकार विभिन्न विद्वानों और संस्थाओं के द्वारा किये गए प्रयासों से अभी तक हम किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच सकते कि कबीर कृत रचनाएँ कौन-कौन सी हैं?

सार रूप में कहा जा सकता है कि सभी लेखकों ने अपना ध्यान तीन ग्रंथों 'बीजक', 'आदिग्रंथ', कबीर ग्रंथावली पर ही आधारित रखा है। अभी तक विभिन्न उपलब्ध ग्रंथों को दो कोटियों में रखा गया है– कबीर पंथ साहित्य और कबीर-कृत साहित्य। हमारा लक्ष्य कबीर-कृत साहित्य पर प्रकाश डालना है। यहाँ कबीर कृत साहित्य को अपने इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप में रहेंगे।

कबीरदास के साहित्य को पढ़ने पर कहा जा सकता है कि कबीरदास ने एक निश्चित उद्देश्य से ही साहित्य की रचना की थी। उन्होंने संसार रूपी सागर में फँसे लोगों को पार उतारने हेतु ही काव्य-रचना की थी। कबीरदास ने अपनत्व भाव से अभिव्यक्त किया है। अपने काव्य के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए कबीरदास ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है–

"तुम्ह जिन जानौं गीत है यह ब्रह्म विचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे।"

कबीरदास ने अपने निश्चित उद्देश्य से काव्य रचना की है। उनका मानना है कि ईश्वर की भी यही इच्छा थी–

हरि जी यहै विचारिया साखी कहो कबीर।
भौ सागर में जीव है, जे कोई पकड़े तीर।।

कबीरदास जी ने किसी विद्यालय अथवा मदरसे में जाकर विधिवत शिक्षा ग्रहण नहीं की। इस तथ्य को उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि उन्होंने कभी कागज स्याही को छूआ नहीं। कलम कभी हाथ में पकड़ी नहीं। इसका अर्थ है कि उन्होंने अपनी वाणी स्वयं नहीं लिखी। उनकी वाणियों को उनके जीवन काल या बाद में लिपिबद्ध किया होगा। यह भी संभव है कि कुछ रचनाएँ संतों और लोकगायकों द्वारा गाई जाती रही हों। कबीर पंथी तो गुरु की वाणी को अनन्त मानते हैं। कबीर पंथी कहते हैं–

"जेते पत्र वनस्पति और गंगा की रेन।
पड़ित विचार का कहै, कबीर की मुख बैन।।"

विद्वानों के अनुसार बीजक ही कबीर की प्रामाणिक रचना है। इनके तीन संग्रह उपलब्ध हैं। यहाँ हम उन्हीं को आधार बनाकर उनके साहित्य अथवा काव्य का अध्ययन प्रस्तुत करेंगें। कबीर काव्य के तीन प्रमुख रूप हैं–

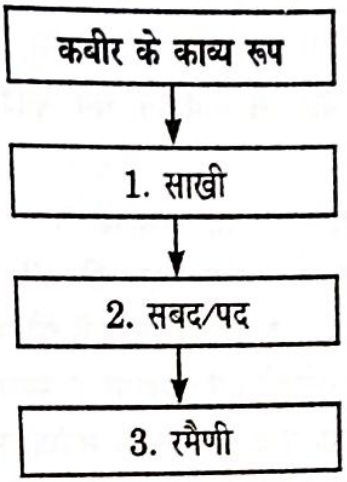

1. साखी–

'साखी' शब्द कबीर के दोहों के लिए प्रयुक्त हुआ है। साखी शब्द साक्षी से बना है। 'साक्षिन' इसका उपभ्रंश रूप है। इसका अर्थ है वह घटना जो अपनी आँखों से देखी हो। आरम्भ में तो गुरु को ही साक्षी कहा जाता था क्योंकि वह सांसारिक, नैतिक और आध्यात्मिक समस्याओं को जानते थे। बाद में गुरु के वचनों को ही 'साखी' नाम दिया गया। सिद्ध एवं नाथ योगियों में यह बात साधारण रूप में ही कही जाती थी कि वे साक्षी देकर सिद्ध कर रहे हैं अर्थात् यह वचन पूर्ववर्ती सिद्ध पुरुष का है। सिद्ध एवं संत इस बात को समझते थे कि साधारण आदमी इस दशा को नहीं समझ सकता। अतः उन्होंने अपने गुरु का नाम साक्षी रूप में लिया है।

साखी (साक्षी) कबीर का उपेदशात्मक काव्य है। सिद्धों व नाथों ने नीति, व्यवहार ज्ञान तथा वैराग्य आदि के लिए जो कुछ लिखा, उसे ही 'साखी' का नाम दिया गया। कहा जा चुका है कि साखियों में मुख्यतः दोहा छंद का ही प्रयोग किया गया है। सन्त कवियों ने अपने नीति-युक्त दोहों को साखी कहा है।

साखी लिखने की परम्परा का आरम्भ गुरु गोरखनाथ के समय से माना जाता है। उनकी साखी की प्रथम रचना 'जोगेश्वरी साखी' है। संत नामदेव जी की एक साखी रचना उपलब्ध हुई है। कबीर के साहित्य पर गुरु गोरखनाथ एवं नामदेव की रचनाओं का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। इससे पता चलता है कि कबीर से पूर्व ही एक साखी परम्परा चल रही थी। अतः स्पष्ट है कि बाद के सन्तों में भी उसका उस रूप में प्रयोग किया है। उस काव्य को साखी काव्य कह कर पुकारा है।

कबीर की वाणी का अधिकांश भाग साखी रूप में उपलब्ध है। कबीर की 'बीजक' रूप में 353 साखियाँ हैं। आदि ग्रंथ 'गुरु ग्रंथ साहब' में 243 साखी संकलित हैं। आदि ग्रंथ 'गुरुग्रंथ साहब' उन्हें श्लोक के नाम पुकारा गया है। कबीर ग्रंथावली में 819 साखियाँ हैं। कबीर की साखियाँ वहाँ निर्गुण, निराकार ईश्वर के साक्षात्कार से उत्पन्न उन्माद, ज्ञान अनन्त की लहरों में डूबी हुई हैं। इसके पढ़ने से परमत्त्व रूपी ज्ञान की प्राप्ति होती है। दूसरी ओर व्यावहारिक ज्ञान का भी बोध होता है। कबीर ने अपनी साखियों में गुरु महिमा, संसार की नश्वरता व असारता, तृष्णा, माया, अज्ञानता आदि का वर्णन किया गया है। कबीर के प्रमुख सिद्धांतों का उल्लेख भी उसमें हुआ है।

"साखी आँखी ज्ञान की समुझि देख मन याहि।
बिन साखी संसार का झगरा घूटत नाही।।

कबीरदास सम्पूर्ण साखी साहित्य विविध अंगों में विभाजित हैं। अंग से अभिप्राय है–भाग या प्रकरण। इनमें दोहों के साथ-साथ सारठा, मुक्तामणि दो हकीम वीरता छंदों का प्रयोग किया गया है। कबीर कृत साखियों में जहाँ एक ओर लौकिक और पारलौकिक विषयों की चर्चा की है तो दूसरी ओर सन्त मत को उद्घाटित करते हुए समाज में व्याप्त पाखण्डों एवं अन्धविश्वासों का विरोध किया है। उनका कथन है–

निखैरी निहकामता साई सेती नेह।
विषय सूँ न्यारा रहे, संतनि को अंग एह।।

इस साखी में कबीरदास ने सन्तों के मत एवं आचारण पर प्रकाश डाला है। वे किसी से बैर भाव नहीं रखते तथा निष्काम भाव से जीवन व्यतीत करते हैं। सबसे समान रूप से स्नेह भावपूर्ण व्यवहार करते हैं। सांसारिक विषय-वासनाओं से दूर रहते हैं। साखियों में कबीरदास ने समाज में व्याप्त बुराईयों का खण्डन करते हैं। उन्होंने हिन्दू और मुसलमान समाजों में व्याप्त बुराइयों पर जमकर प्रहार किये हैं। दूसरे प्रकार की साखियों में धन के लोभ, माया, क्रोध, छल-कपट, असत्य, परनिंदा आदि का निषेध करके इनके स्थान पर दया, सहानुभूति, संतोष, माया से सावधान, धैर्य आदि उदात्त गुणों को धारण करने के उपदेश दिये हैं। उदाहरणार्थ यह साखी देखिए–

"ऐसी बानी बोलिए मन का आपा खोए।
औरन को शीतल करे, आपहु शीतल होय।"

इसी प्रकार कबीरदास ने अपनी साखियों में आध्यात्मिक विचारों को भी अत्यन्त सहजभाव से अभिव्यक्त किया है। वे परमतत्व की अनुभूति करके अत्यन्त आनन्दित हो उठते हैं। वे परमात्मा का स्मरण करते हुए उसी में तल्लीन हो जाते हैं। कबीरदास ने पारलौलिक भाव प्रधान सखियों में आत्मा परमात्मा के रहस्यात्मक संबंधों को भी उजागर किया है। अनेक गम्भीर प्रश्नों को उन्होंने अत्यन्त सहज भाव सुलझा दिया है। आत्म परमात्मा के संबंधों पर अनेकानेक ग्रंथ लिखे हुए हैं किन्तु कबीरदास की एक साखी में सहज भाव से इसे अभिव्यक्त किया है–

'जल में कुम्भ में जल, बाहर भीतर पानी।
फूटहि कुम्भ हल जल ही समाना, यह तथ्य कहयौ गिज्ञानी"।।

कहने का तात्पर्य है कि जल भरे घट को सरोवर में रखने पर जैसे उसके भीतर-बाहर जल ही जल होता है और घट के टूटने पर जल जल में मिल जाता है और उसी प्रकार शरीर रूप घट के नष्ट हो जाने पर आत्मा और परमात्मा मिलन हो जाता है। आत्मा और परमात्मा के एकत्व को सिद्ध करने के लिए एक अन्य साखी में कहा है पानी से बर्फ बनती है और बर्फ के पिघलने पर वह फिर पानी का रूप धारण कर लेती है यथा–

"पानी ही ते हिम भया, हिम की गया दिलाय।
कबीरा जो या सो भया, अब कुछ नहीं न जाय।।"

अतः स्पष्ट है कि कबीरदास ने अपनी सखियों में लौकिक एवं पारलौकिक विषयों का सुन्दर एवं सजीव चित्रण किया है। एक ओर वे अपनी मोक्ष की कामना करते हैं तो दूसरी ओर समाज कल्याण का विचार भी उनके मन में बना रहता है। नीति, सद्व्यवहार, सत्संगति, गुरु महिमा, माया, नारी, त्याग, भक्ति आदि-आदि अनेक विषयों का प्रतिपादन कबीर साखियों में किया गया है।

2. सबद/पद

कबीरदास ने साखियों के साथ-साथ अनेक पदों की भी रचना की है। कबीर पद विभिन्न राग-रागनियों पर आधारित हैं और उन्हें आसानी से गाया जा सकता है। कुछ विद्वान इन पदों को 'सबद' की संज्ञा भी देते हैं। कबीर पदावली में कबीर के विभिन्न दृष्टिकोण को बड़े ही सुन्दर पदों में संकलित किया गया है। इसकी सर्वप्रथम विशेषता है कि कबीर ने आत्मिक ज्ञान हेतु गुरु के प्रति श्रद्धा पर बल दिया गया है। क्योंकि भारतीय संस्कृति में सदा ही यह समझा जाता है कि "श्रद्धावान लगते ज्ञानम्।" अर्थात् श्रद्धावान को ही ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है अन्य को नहीं।

'पदावली' में कबीरदास ने माया संबंधी अपने विचारों को सहज एवं स्वाभाविक रूप में उजागर किया है। कबीरदास का माया-संबंधी दृष्टिकोण अत्यन्त गम्भीर एवं बड़ा ही रहस्यपूर्ण है। उनका मत है कि सारा संसार ही माया रूप है जिसके आकर्षण में आकृष्ट होकर मानव सदा भटकता रहता है। कबीर ने अपने पदों में माया को महाठगिनी कहा है। वह त्रिगुण फाँस (तीन गुणों

(माया फंदा) हाथ में लेकर सांसारिक प्राणियों को फांसती रहती है। माया मोक्ष प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा है। इससे सावधान रहने हेतुवनी कबीर ने अपने पदों में दी है। इस सांसारिक माया के विषय में कबीरदास ने लिखा है–

माया महाठगिनी हम जानी।

× × × × ×

कहत कबीर सुनोरे साधो। यह सब अथवा कहानी।

'पदावली' में कबीरदास के ब्रह्म संबंधी विचारों को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। ब्रह्म क्या है? उसका स्वरूप क्या है? आदि विषयों पर अनेक पदों को संकलित किया गया है। कबीर की ब्रह्म संबंधी विचाराधारा उपनिषदों के दार्शनिक विचारों पर आधारित है। उपनिषदों में स्पष्ट कहा गया है–'सर्व खलु इदं ब्रह्म सत्यं जगन्मिया। कबीर ने ब्रह्म के स्वरूप को और भी व्यापक रूप में प्रस्तुत किया है। उनका मत है कि अखिल विश्व की ब्रह्म का स्वरूप है। ब्रह्म से ही संसार की सृष्टि हुई है। कबीर की पदावली में व्यक्त ब्रह्म कोई 'भौतिक ब्रह्म नहीं। कबीर का ब्रह्म दशरथ का सुत राम नहीं है। अपितु तीनों लोकों में व्याप्त रहने वाला ब्रह्म है।

पदावली में कबीर के दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म को निराकार ही नहीं अपितु साकार रूप में भी ग्रहण किया गया है। पदावली में इन स्थानों पर ब्रह्म को प्रेम रूप में भी स्वीकार किया है। ज्ञान के साथ-साथ प्रेम को भी स्वीकार किया गया है। वास्तव में कबीर की पदावली ज्ञान और भक्ति का सागर है। इसमें ज्ञान और भक्ति का समन्व्यवादी रूप अभिव्यक्त हुआ है।

पदावली में तत्कालीन समाज का भी यथातथ्य चित्र प्रस्तुत किया गया है। इसका प्रमुख कारण है कि कबीर ने अपने युग में प्रचलित सामाजिक रुढ़ियों, आडम्बरों, कुप्रथाओं आदि को दूर करने का यथाशक्ति प्रयास किया था। दूसरी ओर उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों के बीच एकता स्थापित करने का प्रयास भी किया था। दोनों धर्मों के भटके हुए लोगों को गलत मार्ग से हटाकर सही मार्ग पर लाने की कोशिश भी की थी।

पदावली में कबीर की रहस्यवादी चेतना का भी उद्घाटन हुआ है। इस रहस्यवाद के पीछे एक अज्ञात शक्ति काम करती है जो सम्पूर्ण विश्व का संचालन करती है। इस अज्ञात शक्ति अथवा परमात्मा के प्रेम को तथा उसकी अनुभूति को गूँगे का सा गुड़ कहा है–

''अकथ कहानी प्रेम की कछू कही न जाइ।
गूँगे केरी सरकारा, खाय और मुसकाय।।''

रहस्यवाद की जितनी गम्भीर विवेचना पदावली में हुई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। पदावली में सर्वात्मवाद मूलक रहस्यवाद की ओर भी संकेत किया गया है, जो माधुर्य भाव से ओत-प्रोत है।

पदावली के अनेक पदों में विरह की पीड़ा को भी अभिव्यंजित किया गया है। 'पदावली' में कबीर के हृदय में राम को वियोग की व्याकुलता एवं बेचैनी निम्नांकित पंक्तियों में देखी जा सकती है–

''वै दिन कब आवैंगे माई।
जो कारनि कम देह धरी है, मिलिवौ अंग लगइ।।''

चिर विभोग के पश्चात् आत्मा को अपने प्रियतम परमात्मा के दर्शन होते हैं और मिलने के समय अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। इन पंक्तियों में आनन्द की अनुभूति को देखिए–

''दुलहिन गाओ मंगलाचार।
हामरे घर जाए राजाराम अवतार।।''

हिन्दी साहित्य में कबीर की पदावली का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भाव की दृष्टि से ही नहीं अपितु काव्य-कला की दृष्टि से भी यह अद्वितीय रचना है।

3. रमैनी–

रमैनी कबीरदास का अन्य काव्य रूप है। इसमें उन्होंने चौपाई एवं दोहा छंदों का प्रयोग किया है। कबीर ग्रंथावली में रमैनी को विभिन्न रागों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इस रचना में कबीरदास ने अपनी भक्ति के सिद्धांतों की चर्चा प्रस्तुत की है। इसमें परमतत्व, परमात्मा, जीवन, रामभक्ति, संसार ब्रह्म आदि के विषय में विस्तृत चर्चा की गई है। रमैनी को विषय की दृष्टि से सृष्टि तत्त्व और संसार की उत्पत्ति, परमतत्त्व, रामतत्त्व, कर्मकाण्ड आदि चार प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है।

बीजक की रमैनियों में सृष्टि की रचना प्रक्रिया से संबंधित विचार [illegible] को प्रकाशित किया है तथा इससे इच्छा रूपी नारी को उत्पन्न किया है। इसका नाम गायत्री रखा। ब्रह्मा, विष्णु, महेश रती के पुत्र हैं। कबीरदास ने छः दर्शन 96 पाखण्ड माया आदि की चर्चा करते हुए सिद्ध, साधक, संन्यासी, सुर, नर, मुनि आदि का भी उल्लेख किया है। कबीर ग्रंथावली में संकलित रमैनियों में सृष्टि तत्व पर विस्तार रूप में प्रकाश डाला गया है। रमैनियों में ब्रह्म के सर्वव्यापक रूप का उल्लेख किया गया है। उन्होंने ब्रह्म अथवा परमतत्त्व को मन और वाणी के लिए आगम्य घोषित किया है। इस संबंध में कबीरदास ने लिखा है–

"जस तू तस तोहि कोई न जान। लोक कहै सब आनहिं आन।
वो है तैसा वो ही जाने, ओ ही अहि आहि नहिं आने।।"

राम तत्त्व की व्याख्या करते हुए कहा है कि उसका राम दशरथ सुत नहीं है। वह अवतारों से परे है।

"ना दशरथ धरि औतरि आवा। ना लंक का राव सतावा।।"

कबीरदास ने अपनी अनेक रमैनियों में हिन्दू-मुस्लिम धर्मों में व्याप्त पाखण्डों एवं कर्मकाण्ड का विरोध किया है साथ ही कवि ने सृष्टि परमात्मा और संसार संबंधी गम्भीर विचारों का उल्लेख किया है।

साखी, पद और रमैनियों के अतिरिक्त 'बीजक' में अन्य छोटी-छोटी काव्य रचनाएँ भी संकलित हैं, यथा–चौंतीसा। इसमें देवनागरी वर्णमाला के स्वरों वक्र, क्ष, त्र, ज्ञ आदि को छोड़कर अन्य व्यंजनों में रचनाएं की हैं। इसमें चौपाई छंद का प्रयोग किया गया है। इस काव्य रचना को 'ज्ञान चौतीसा' भी कहा जाता है क्यों इसमें चौतीस चौपाई छंदों का प्रयोग किया गया है। सम्पूर्ण काव्य रचना में आध्यात्मिक चर्चा है।

- **बावनी**–यह 'आदि ग्रंथ' में उपलब्ध है। यद्यपि यह रचना भी 34 अक्षरों पर की गई है किन्तु इसे परम्परा वश ही बावनी कहा गया है। इसके प्रमुख छंद दोहा एवं चौपाई हैं। इसका संकलन 'राग गाउड़ी' में किया गया है। इसमें ब्रह्म की चर्चा के साथ-साथ संसार की नश्वरता पर भी प्रकाश डाला गया है।
- **विप्रमतीसी**–यह रचना केवल कबीर बीजक में ही मिलता है। इसमें ब्राह्मणों के अहंकार का खण्डन किया गया है। इसमें तीस पंक्तियों के पश्चात् सारणी दी गई है। नाम से पता चलता है कि इसमें ब्राह्मणों की बुद्धि की चर्चा की गई है। इस काव्य में ब्राह्मण आलोचना इसलिए की गई है क्योंकि वे ज्ञानी होते हुए भी ज्ञान के अनुकूल व्यवहार नहीं करते। कबीर के अनुसार ब्रह्म सबमें विद्यमान है और इसलिए सामाजिक भेदभाव व्यर्थ है।
- **वार**–यह रचना आदि ग्रंथ 'गुरु ग्रंथ साहिब' में उपलब्ध है। यह रचना 'राग गाउडी' में रचित है। संत कवि कालतत्त्व को भगवान का **'कोदण्ड'** कहते हैं। उसी फल को वे जीवन में उतारना चाहते हैं। अतः जो रचनाएँ तिथियों एवं दिनों के नाम से लिखी गई हों उन्हें **वार** कहते हैं। 'वार' का अर्थ ही सप्ताह के दिन है।
- **थिती**–इस काव्य रूप का प्रचलन कबीर से पूर्व था। गुरु गोरखनाथ वाणी में थिती नामक काव्य रचना संकलित है। गुरु नानक देव की थिती रचना गुरु ग्रंथ साहब में संकलित है। आदि ग्रंथ में कबीर की थिती नामक रचना संकलित है। इसका प्रयोग थितियों के अनुसार किया गया है। 'पुनिउ' की थितियों में कुछ 46 पंक्तियों में रचित है। यह राम गाउड़ी में रचित है। इसमें आध्यात्मिक को विषय बनाया गया है।
- **चांचर**–चांचर शब्द की उत्पत्ति 'चर्चरी' से हुई है। संस्कृत में चर्चरी शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'चर्चरी' एक शृंगार प्रधान काव्य रूप है। इसका गायन बसन्त ऋतु में नृत्य के साथ किया जाता है। कबीरदास ने इस काव्य रूप का खूब प्रयोग किया है किन्तु इसमें शृंगार के स्थान पर आध्यात्मिकता को विषय बनाया है।
- **बसन्त**–'बसन्त' कबीर काव्य का प्रमुख रूप है। इसका प्रयोग बसन्त ऋतु में गाए जाने वाले फागू, होली आदि संबंधित गीतों में किया गया है। कबीरदास ने बसन्त का प्रयोग उपदेशात्मक रूप में किया है। इसमें माया को प्रमुख रूप से विषय बनाया गया है।
- **हिंडोला**–'हिंडोला' वह काव्य रूप है जिसमें वर्षा ऋतु में गाये जाने वाले गीत होते हैं। कबीर के युग में यह जनकाव्य के रूप में प्रचलित था। कबीरदास ने तो संसार को हिंडोला मानकर उसकी चर्चा की है। पाप-पुण्य रूपी दो खम्बे हैं और भ्रम हिंडोला है। इस रूपक के माध्यम से कवि ने पाप, पुण्य, शुभ-अशुभ आदि कार्यों का उल्लेख किया है।

- **बेलि**–'कबीर बीजक' में इसके दो उदाहरण मिलते हैं। इस काव्य रचना की प्रत्येक पंक्ति के अन्त में **'होर मोया राम'** दोहराया जाता है। यह कबीर का उपदेशात्मक काव्य है। अनेक संत कवियों ने इसका प्रयोग किया है।
- **कहरा**–'कबीर बीजक' में इसके बारह उदाहरण हैं। यह सुर-ताल के साथ गाया जाने वाला साहित्य है। 'कहरा' शब्द के विद्वानों ने विभिन्न अर्थ लगाए हैं। कुछ विद्वान इसे जन्म-मरण का गीत कहते हैं। परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार यह जन्म-मरण के कहर से बचाने वाला कहरा बताया है। इसका मापन भी लय अनुकूल होता है। प्रत्येक पंक्ति के अन्त में 'हो', 'गे' या 'हे' का प्रयोग होता है।
- **बिरहुली**–यह तेरह पंक्तियों की रचना है। हर पंक्ति के अन्त में 'बिरहुली' शब्द का प्रयोग किया गया है। आचार्य हजारी प्रसाद ने इसे सर्प के जहर को उतारने वाला गीत कहा है।
- **उलटबांसी**–उलटबांसी एक विशिष्ट प्रकार का काव्य होता है। इसमें तथ्य को प्रस्तुत करने का एक अनोखा अंग होता है। यह एक बँधी बंधाई विशेष काव्य पद्धति है। कबीरदास ने इस काव्य रूप में आध्यात्मिक बातों का वर्णन लोकविपरीत पद्धति में किया है। इस काव्य पद्धति में लोक मर्यादाओं, विधि-विधानों और प्रकृति के विपरीत चलना पड़ता है इसलिए इसे उलटबांसी काव्य कहा जाता है। कबीर से पूर्व भी सिद्धों ने इस काव्य पद्धति का प्रयोग किया था। कबीर द्वारा रचित उलटबांसी काव्य का यह उदाहरण देखिए–

  "एक अचम्बा देखा रे भाई ढाढ़ा सिंह चरावै गाई।
  जल की मछली तरूबर ब्याई, पकड़ी बिलाई मुरगै खाई।।

  × × × × × × × ×

  "अम्बर बरसे धरती भीजै, यह जान सब कोई।
  धरती बरसै अम्बर भीजै बूझै बिरला कोई।।"

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि कबीर का जितना भी काव्य है व जन-काव्य है। उसमें कहीं भी दुरूहता दिखाने का प्रयास नहीं किया गया। जन-प्रचलित काव्य-रूपों का ही प्रयोग किया गया है। कबीर द्वारा प्रयुक्त सभी काव्य रूप परम्परागत काव्य रूप हैं। कबीरदास के युग के तथा उसके बाद के कवियों ने भी कबीर के इन काव्य रूपों का खूब प्रयोग किया है। कबीर काव्य जहाँ भाव की दृष्टि से अत्यन्त विकसित है तो वहाँ काव्य-शिल्प की दृष्टि से भी समृद्ध है।

◆◆◆

7. कबीर की उलटबांसियाँ

1. कबीर की उलटबांसियों पर अपने विचार व्यक्त कीजिए। **(M.D.U. Aug. 2021)**

अथवा

कबीर की उलटबांसियों का आलोचनात्मक विवेचन करते हुए उनका साहित्यिक मूल्यांकन भी कीजिए। (Most Imp.)

अथवा

साधक कबीर ने योग मार्ग प्रतिपादित उल्टी साधना को उलटबांसी शैली के माध्यम से बड़े चमत्कार पूर्ण ढंग से अभिव्यंजित किया है। इस कथन को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर–उलटबांसियों का अर्थ एवं अवधारणा–कबीरदास ने अपने विचारों को उलटबांसियों के माध्यम से प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त किया है। कबीर की अनेक उलटबांसियाँ जनसाधारण में प्रसिद्ध हैं। इस बात से उनकी उलटबांसियों की प्रसिद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है। ये उलटबांसियाँ प्रायः विचित्र बानियों के रूप में रचित हैं। इनके अर्थ एवं भाव को सहजता से नहीं समझा जा सकता। अपितु पाठक या श्रोता इन्हें पढ़कर या सुनकर हैरान रह जाता है। किंतु जब गहराई में पहुँचकर इसके अर्थ को समझ लेता है तो वह आनन्द से भाव-विभोर हो उठता है।

कबीर के काव्य में उलटबांसियों की बहुत बड़ी संख्या है–

- **'सोई पंडित सो तत ग्याता, जो इहि पदहि बिचारै।**
  कहै कबीर सोइ गुर मेरा, आप तिरै मोहि तारै।।
- **कहै कबीर या पद कौ बूझै, ताकूं तीन्यूं त्रिभुवन सूझौ।'**

कभी-कभी वे उलटबांसियों में निहित विद्यमान रहस्य की ओर केवल यह कह देते हैं,

'बूझो अकथ कहानी'

अथवा

'एक अचंभा देखा रे भाई'

अथवा

'अकथ कहानी प्रेम की कुछ कहा न जाई।'

कबीरदास की ऐसी वाणियाँ अधिकतर फुटकल पदों के रूप में प्राप्त हैं। न तो उनका कोई शीर्षक है और न ही सही प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। अतः इनको किसी प्रसंग के सहारे नहीं समझा जा सकता।

उलटबांसी शब्द की उत्पत्ति–

उलटबांसी शब्द कहां से आया और इसकी उत्पत्ति कैसे हुई इसका ठीक पता नहीं चलता। प्रायः इस शब्द का अर्थ उलटा मान लिया जाता है। उलटबांसी के दो अर्थ प्रचलित हैं–प्रथम है जैसे अर्थ वास्तव में प्रकट होता है उसका पूर्णतः विपरीत या उलटा अर्थ लेना। दूसरा जो प्रतिपादित अर्थ है उसे उलटा समझना। डॉ. परशुराम चतुर्वेदी ने उलटबांसी के दो अर्थ किये हैं–

1. एक स्थान पर उन्होंने उलटा और अंश शब्द की संधि मानी है।

2. दूसरी व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं कि उलटबांसी का अर्थ उलटा और बांस द्वारा निर्मित लिया जाता है। जिस दिशा में उसका ठीक-ठीक अर्थ वैसी रचना के अनुसार होगा जिसका बांस उलटा या विपरीत ढंग से पाया जाए। डॉ. परशुराम द्वारा दी गई यह परिभाषा पूर्णतः ठीक प्रतीत नहीं होती। डॉ. सरनाम सिंह ने उलटबांसी को परिभाषित करते हुए लिखा है–मेरी समझ में इस शब्द की दो उत्पत्तियाँ हो सकती हैं–एक तो उलटबांसी शब्द से और दूसरी उलटवां से संबंधित है। पहले शब्द उलटा का अर्थ उलटी हुई है और सी का अर्थ समान है। अतः उलटबांसी का अभिप्राय हुआ–उलटी हुई प्रतीत होने वाली उक्ति। उलटबांसियों में उलटी बातें कही जाती हैं। इसलिए यह उचित प्रतीत होता है। गुरु गोरखनाथ का 'उलटी चर्चा' और कबीर का 'उलटा वेद' आदि के प्रयोग इसी बात का समर्थन करते हैं।

उलटबांसी शब्द की उत्पत्ति विशेष रूप से विचारणीय है। यह उत्पत्ति उलटबांस से संबंध रखती है। परमपद या आध्यात्मिक लोक में रहने वाला निवास स्थान उलटबांस है। इससे संबंधित वाणी उलटबांसी कहलाती है। वस्तुतः आध्यात्मिक अनुभूतियाँ लोक अनुभूति से सदा उलटी होती हैं। उन्हें व्यक्त करने वाली वाणी भी लोक वाणी की दृष्टि से उल्टी ही होती है। 'बा' के ऊपर अनुनासिका का प्रयोग भी अकारण ही प्रतीत होता है। अतः ये परिभाषाएं अधिक सार्थक एवं सटीक हैं।

उलटबांसी परम्परा–उलटबांसी लेखक की परम्परा अत्यधिक प्राचीन है। वैदिक काल में भी इसका प्रयोग मिलता है। आजकल जिस प्रकार की उक्तियों को उलटबांसी कहा जाता है, उन्हें कबीर काल तक उलटबांसी नहीं कहा जाता था। इस संदर्भ में डॉ. सरनाम सिंह का यह कथन विचारणीय है–

"हम यह नहीं कह सकते हैं कि 'उलटबांसी' शब्द का प्रयोग कब से हुआ, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द कबीर के बाद का है। इसका प्रयोग न तो कहीं कबीर से पहले मिलता है और न कबीर-वाणी में ही। जिस प्रकार नाथों ने 'उलटी चरचा' शब्द का प्रयोग किया है उसी प्रकार कबीर ने 'उलटवेद' और 'उलटी-चाल' का प्रयोग किया है, किंतु उलटबांसी का प्रयोग कहीं नहीं किया। संभवतः नाम में मौलिकता लाने तथा नाथों के 'उलटी चरचा' से पृथक करने के लिए कबीरपंथियों ने 'उलटबांसी' नाम का प्रचलन किया हो। आश्चर्य नहीं कि किसी पंथ-विरोधी व्यक्ति ने उलटबांसी शब्द को 'ऊटपटांग बात' के अर्थ में प्रयुक्त किया हो। इसका प्रयोग किसने किया, इस संबंध में गवेषणा की आवश्यकता है।"

इसी प्रकार की रचनाओं की परम्परा को अति प्राचीन कहते हुए उन्होंने लिखा है–"इस प्रकार की रचनाएं हमें वैदिक काल से ही मिल जाती हैं। ऋग्वेद में इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं–

- **"अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद्वां मित्रावरुणा चिकेत।"**
  (बिना पैरों वाली पैरों वालों से पहले आ जाती है, मित्रावरुण इस रहस्य को नहीं जानते हैं।)

ऋग्वेद में ही अन्यत्र भी कहा गया है–

- **"चत्वारि श्रृंगा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधावृद्धो वृषभो रोरवीति।"**
  (इस बैल के चार सींग, तीन चरण, दो सिर और सात हाथ हैं, यह तीन प्रकार से बंधा हुआ उत्पन्न उच्च शब्द करता है।)
- **"इदं विष्णुर्विचक्रमे जनासश्चरन्ति यत्तवस्तत्सुरायः।"**
  (हे मनुष्यों! यह जगत् निर्चयन है क्योंकि इसमें जल स्थिर है और नदियां बहती हैं।)
- **क इमं वो नृष्यमाचिकेत, वत्सो मातृः जनयति सुधिभः।**
  (वन आदि में अन्तर्निहित अग्नि को कौन जलाता है? पुत्र होकर भी अग्नि द्वारा अपनी माताओं को हृदय से जन्म देते हैं।)

उपनिषदों में भी यत्र-तत्र ऐसी उलटबांसियाँ मिल जाती हैं। उपनिषदों से होती हुई यह परम्परा सिद्ध और नाथों तक पहुँची है। यद्यपि उपनिषदों में इसके उदाहरण कम हैं। सिद्ध साहित्य तो उलटबांसियों का गढ़ है। इषोपनिषद् का यह उदाहरण देखें–

- **"तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।**
  तदन्तरस्य सर्वस्य तद् सर्वस्यास्य वाह्यातः।
  (अर्थात् यह चलता है और नहीं भी चलता, दूर है और निकट भी है, और वह सबके भीतर भी है और बाहर भी। वह ठहरा हुआ भी दौड़ने वालों से आगे निकल जाता है।)

"धम्मपद में ऐसे अनेक उदाहरण हैं–

- **"मातरं पितरं हन्त्वा राजनों द्वेच खत्तिये।**
  रट्ठं सानुचर हन्त्वा अनिघो याति बाह्मणो।।"
  (कहने का भाव है माता-पिता, दो क्षत्रिय राजाओं और सेवक सहित समूचे राष्ट्र को नष्ट करने के बाद ब्राह्मण पापहीन हो जाता है।)

बौद्ध धर्म से उत्पन्न दोनों शाखाओं बज्रयान व सहजयान में उलटबांसियों का खूब प्रयोग किया गया। काण्हपा-कृत यह उलटबांसी देखिए–

- **"मारि शशु नणन्द घरे शाली।**
  मार माहिआ कान्ह भइल कपाली।।"
  (घर में सास को मारा, फिर नन्द व साली को मारा। तत्पश्चात् मां को मारने के पश्चात् काण्हपा कपाली हो गया।)

काण्हपा के पश्चात् देण्ढेणपा की उलटबांसियाँ प्रसिद्ध हुई हैं। उनकी उक्तियां अत्यन्त रोचक हैं। वे लिखते हैं "बैल ब्याहता है और गाय वांझ रहती है।" इसी उलटबांसी से मिलती-जुलती कबीर की यह उलटबांसी देखिए–

"बलद बिआवल गविआ बाके
× × × ×
बरसै कम्बल भीगै पानी
× × × ×
नाव विच नदिया डूबी जाए।

कबीर के काव्य में उलटबांसियाँ–

कबीरदास ने अनेक स्थलों पर ऐसी उक्तियां कही हैं। किंतु उन्होंने ऐसी उक्तियों को कहीं उलटबांसी नहीं कहा है। फिर भी उनके काव्य में ऐसी जटिल उक्तियों की कमी नहीं है। ये सब उक्तियां गूढ़ रहस्यात्मक हैं। इन्हें समझ सकना सरल कार्य नहीं है। विद्वानों ने इन्हें संध्या भाषा की रचनाएं भी कहा है। ये प्रायः दृष्टिकूट पदों का स्पर्श करने लगती हैं। डॉ. सरनाम सिंह शर्मा ने कबीर की उलटबांसियों का विवेचन करते हुए कहा है–

"प्राकृतिक परिस्थितियों को उलट कर विपरीत निरूपण करना ही कबीर की उलटबांसियों का उद्देश्य है। वास्तव में उलटबांसियाँ धर्म-विपर्यय रूपक हैं। इनमें प्रतीकों का बहुत गूढ़ एवं सुंदर उपयोग हुआ है। ऐसा वर्णन प्रथम दृष्टि में तो असंभव-सा लगता है, किंतु आध्यात्मिक दृष्टि से उसका विश्लेषण करने पर इसमें चमत्कारी अर्थ निहित रहता है। उलटबांसी की अस्पष्टता भाषा या वर्ण्यविषय की नहीं है, वह शैली की है। कबीर या उनके अनुयायी संतों ने ही इस शैली का उपयोग नहीं किया वरन् संसार के सभी रहस्यवादी कवियों ने अपने आनन्द की अनुभूति व्यक्त करने में इस शैली का आश्रय लिया है। बड़े से बड़ा विद्वान् उलटबांसी के अर्थ में उलझ सकता है जो आध्यात्मिक संकेतों से परिचित है।"

कबीर के काव्य में असंख्य उलटबांसियों का भंडार है जो रहस्यात्मक होने के साथ-साथ विचित्र भी हैं, विलक्षण और अटपटी भी। आश्चर्यचकित करने वाली होने के साथ-साथ आध्यात्मिक अनुभूतियों से परिपूर्ण हैं। कबीर की उलटबांसियों का यह भंडार तात्त्विक रहस्य की ओर संकेत करने वाला लोक-व्यवहार से सर्वथा विपरीत प्रतीत होता है। इनके सांकेतिक अर्थों को समझने के लिए काफी श्रम और बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। प्रतिपाद्य विषय एवं प्रकृति की दृष्टि से कबीर की उलटबांसियों को निम्नांकित वर्गों में बांटा जा सकता है।

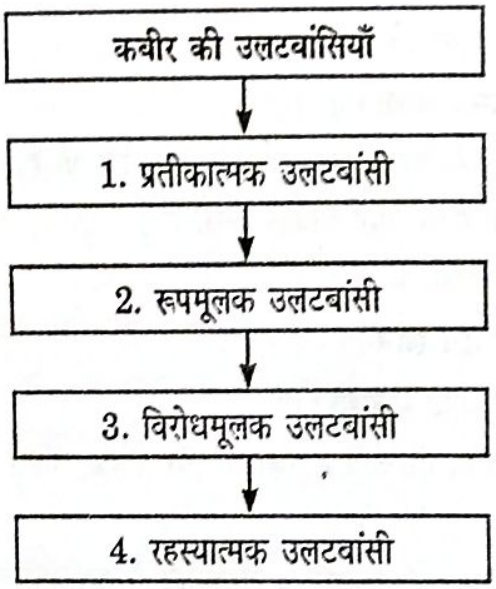

1. प्रतीकात्मक–कबीर ने अपनी उलटबांसियों में प्रतीकों का खूब प्रयोग किया है। प्रतीकों के माध्यम से अनुभूतियों का आश्रय लेकर कबीर ने गूढ़तम भावना एवं रहस्य को सफलतापूर्वक अभिव्यंजित कर दिखाया है। हां कहीं-कहीं प्रतीकों की अधिकता के कारण अर्थ का समझना कठिन हो गया है। कबीर-कृत यह उलटबांसी देखते ही बनती है जिसमें उन्होंने नगर की रक्षा और प्रशासन का प्रश्न उठाया है–

"कैसे नगरि करौं कुटवारी, चंचल पुरिष विचषन नारी।
बैल बिआई गाइ गई बांझ, बछरा दूहै तीन्यूं सांझ।।
मकड़ी धरि, माखी छछि हारी, मास पसारि चील्ह रखवारी।।
मूसा खेवट नाव विलया, मींडक सोवै सांप पहरइया।।
नित उठि स्याल स्यँध सूँ सूझै, कहै कबीर कोई बिरला बूझै।।

इस पद में कबीरदास ने मानसरोवर के प्राणियों के प्रतीकों द्वारा उनके अस्वाभाविक व्यापारों को उद्घाटित किया है, जिनके फलस्वरूप नगर के शासन-प्रबंध में उत्पन्न व्यक्तिक्रम की ओर संकेत किया है। इसमें नगर मानव शरीर का, पुरुष एवं नारी मन एवं कामना के, बैल विकृत मन का, बंध्या, गाय सात्विक बुद्धि का, बछरा इन्द्रियों का, मकड़ी माया का, माखी इच्छा का, मांस विषयी का, मूसा मन का, बिल्ली दुर्गति का, सर्प संशय का, स्याल जीव एव स्यंध काल के प्रतीक हैं। इन प्रतीकों के द्वारा कबीरदास ने प्रपंच एवं माया जाल में फंसे जीव की दीनहीन दशा का चित्रण किया है।

2. रूपमूलक उलटबांसी–कबीर के काव्य में रूपमूलक उलटबांसियां का अभाव नहीं है। लोकव्यवहार के वर्णन द्वारा आध्यात्मिक अनुभूतियों को सफलतापूर्वक अभिव्यक्त किया है। ऐसी उलटबांसियों में रूपक-योजना की प्रधानता रहती है। ऐसी उलटबांसियां अद्‌भुत रस की सृष्टि करती हैं। रूपमूलक उलटबांसी का यह उदाहरण देखिए–

"ऐसा अद्‌भुत मेरे गुरि कथ्या मैं रहा भेषै।
मूसा हस्ती सौ लड़ै कोई बिरला पेखै।।
मूसा पैठा बांनि में, लारै सापणि धाई।
उलटि मूसै सापणि गिली, यहु अचिरज भाई।।
चींटी परवत उषण्या ले राख्यो चौड़े।
मुर्गा मिनकी सूं लड़ै, झल पांणी दौड़े।।
सुरही चूंखै बछतालि, बछा दूध उतारै।
ऐसा नवल गुणीभया सारदूलहि मारै।।
भील लुक्या बन बोझ मै ससा सर सारै।
कहै कबीर ताहि गुरु करौं, जो यह पदहि विचारे।।"

इसी प्रकार कबीर ने 'संतो भाई आई ज्ञान की आंधी रे', 'उलटी गंगा नीर बहि आया, अमृत धार चुवाई' आदि पदों में सुंदर सांगरूपक-योजना द्वारा उलटबांसियां कहीं हैं।

3. विरोधमूलक उलटबांसियां–कबीर के काव्य में विरोधमूलक उलटबांसियों का भी भंडार है। इनमें कबीर ने लोक-व्यवहार के विपरीत विचित्र प्रकार की पद-योजना की है तथा विभावना, असंगति, विषम, विरोधमूलक, विसंगति आदि अलंकारों का प्रयोग किया है। ये उलटबांसियां लौकिक जगत के लिए 'उलटी' मालूम पड़ती हैं किंतु वास्तव में उलटी नहीं हैं, यथा–

"आंगणि बेलि आकासि फल, अण ब्यावर दूध।
ससा सींग की धूनहड़ी, रमैं वांझ का पूत।"

यहां कबीरदास ने माया को अमर बेल कहा है जो संसार के आंगन में आरोपित है जिसका फल आकाश में जाकर लगता है। अमर बेल के जड़ ही नहीं होती, बिन ब्याई गाय का दूध नहीं होता, खरगोश के सींग नहीं होते, बांझ स्त्री का पुत्र नहीं होता। इस सब प्रतीकों के माध्यम से कबीर ने माया की अस्तित्वहीनता को व्यक्त किया है। अन्य उदाहरण देखिए–

विषम– **"अकासे मुखि औंधा कुआँ, पाताले पनिहारि।"**

विभावना– **बिन मुख खार चरन बिन चालै, बिन जिभ्या गुण गावै।।**
बिनहीं तालां ताल बजावै, बिन मंदल पट ताला।।

4. रहस्यात्मक उलटबांसियाँ–कबीर ने अनेकानेक रहस्यात्मक या अद्‌भुत उलटबांसियों की रचना की है। इसमें अद्‌भुत रस की विशेष प्रतिष्ठा हुई है। ऐसी उलटबांसियों में विचित्र चमत्कार उत्पन्न हुआ है। उनको पढ़ते ही पाठक का मन अर्थ से हटकर विस्मय के सागर में रस विभोर हो उठता है। इन उक्तियों का अर्थ सरलता से संप्रेषित नहीं होता क्योंकि गोपन शैली में गहन एवं अवर्चनीय आनन्दानुभूति को अभिव्यंजित किया गया है।

"डाल गह्या थैं मूल न सूझे, मूल गह्या फल पावा
बंबई उलटि शर मोंलावी, धरणि महारस खावा।
बैठि गुफा में सब जग देख्या, बाहर कछू ने सूझै।

इसी प्रकार अद्‌भुत रस प्रधान एक उलटबांसी देखिए–

एक अचम्मा देखा रे भाई। ढाढ़ा सिंह चरावै गाई।।
पहलै पूत पीछैं भई भाई। चेला का गुरु लागै पाई।।
बैलहि डारि गुंनि धरि आइ। कुत्ता कूँ लै गई बिलाई।।
तलि करि शाखा ऊपरि करि मूल। बहुत भांति जड़ लागै फूल।।
कहै कबीर या पद कौं बूझै। ताकूँ तीन्यूँ त्रिभुवन सूझै।।

कबीर ने कहा है कि जो इन सब प्रतीकों के अर्थ समझ लेगा उसे तीनों लोक दिखाई दे जाएंगे। इसका वास्तविक अर्थ इस प्रकार है–जिसने मन एवं इन्द्रियों को वश में कर लिया है, जिसे सच्चा ज्ञान भी मिल गया है, एवं जिसकी चित्त-वृत्ति परमात्मा के प्रेम में ओत-प्रोत है, वह व्यक्ति अपने पिंड में त्रिभुवन क्या ब्रह्माण्ड के दर्शन कर सकता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कबीर की उलटबांसियों में अद्भुत प्रेम के रहस्य, ज्ञान, आध्यात्मिक अनुभव को भिव्यक्त किया गया है। कबीर ने वस्तु जगत के दैनिक जीवन के दृष्टांत लेकर अदृश्य जगत की अनुभूतियों को वाणी प्रदान ो है। इन उलटबांसियों में अनेक स्थलों में मनुष्य की या जीवन-जगत की समस्याओं पर मनोवैज्ञानिक रूप से भी प्रकाश डाला या है। कबीर की हिंदी-साहित्य को यह अद्भुत देन है। कबीर के पश्चात् भी उलटबांसियों के लेखन की परम्परा चलती रही किंतु उन कवियों ने इनके नाम अपनी इच्छानुसार रखे। अतः कबीर के काव्य में ही नहीं अपितु विश्व के साहित्य में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

◆◆◆

8. कबीर की प्रतीक योजना

3. कबीर की प्रतीक-योजना की समीक्षा कीजिए। **(M.D.U. Aug. 2021) (टि.)**

अथवा

कबीर के काव्य में 'प्रतीक-योजना' विषय पर सारगर्भित निबंध लिखें। **(Imp.)**

उत्तर–कबीर की प्रतीक योजना–जब कवि अपने सूक्ष्म भावों एवं विशेष रूप-व्यापारों को व्यक्त करने की आवश्यकता अनुभव करते हैं तो वे लक्षण एवं व्यंजना शक्ति का आश्रय लेते हैं तथा ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जो उन भावों और व्यापारों के प्रतीक बनकर सजीव चित्र अंकित कर देते हैं। ये शब्द ही 'प्रतीक' कहलाते हैं। **डॉ. राम अवध द्विवेदी** ने प्रतीक की परिभाषा पर विचार करते हुए कहा है–**"सामान्य शब्दों तथा परंपरागत अलंकारों में गूढ़तम विचारों, भावनाओं एवं अनुभूतियों के समुचित प्रकाशन की शक्ति नहीं होती, अतः प्रतीकों द्वारा भाषा में नवीन कामना उत्पन्न होती है। जिसके सहारे वह अपने उच्चतर कार्य के संपादन में सफल होती है। .....प्रतीकों में सूक्ष्म निर्देशन की जो शक्ति निहित होती है उसकी कोई सीमा नहीं। किसी निर्देशन से उनका कार्य कारण नहीं है। अतः प्रतीकात्मक कथन में संकेतात्मक के बहुल के साथ-साथ सामान्य जनों के लिए अस्पष्टता की प्रतीक स्वाभाविक है।"**

'प्रतीक' का साधारण अर्थ शब्द-चिह्न होता है। किंतु सभी चिह्न प्रतीक नहीं होते। एक प्रतीक साधारण चिह्न से बहुत बड़ा होता है। प्रतीक बहुत बड़े अर्थ या संकेत को आत्मसात किये रहता है। कवि प्रतीकों के माध्यम से गूढ़ से गूढ़ विचार भी व्यक्त करते हैं। कहने का भाव है कि प्रतीक भावों की सहज एवं सरल अभिव्यक्ति के साधन हैं। कबीरदास ने प्रतीकों का सहज प्रयोग अपनी भावनाओं को उद्दीप्त करने और जनता में ब्रह्मज्ञान के प्रति विस्मय, कौतूहल और जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिए किया है। कबीरदास की प्रतीक योजना व्यावहारिक जीवन से संबंधित है क्योंकि उन्होंने ऐसे प्रतीकों को चुना है जिनका संबंध उनके दैनिक व्यवहार की वस्तुओं से है। **डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना** ने कबीरदास द्वारा प्रयुक्त प्रतीकों को पांच भागों में विभाजित करते हुए लिखा है–

"पहले वे प्रतीक हैं जिनका संबंध दैनिक जीवन की व्यवहार की वस्तुओं से है–जैसे घड़ा, पानी, करघा, ताना-बाना, चरखा, फिरकी, धागा, लकड़ी, घास-फूंस आदि। दूसरे वे हैं जिनका संबंध प्राकृतिक पदार्थों व जीव जंतुओं से है–जैसे–चन्द्रमा, गंगा-यमुना, जंगल, शाखा, वृक्ष, कली, चातक, सिंह, गाय, बिलाव, चींटी, हाथी आदि। तीसरी प्रकार के वे प्रतीक हैं जिनका संबंध पारिवारिक जनों से है, जैसे–माता-पिता, पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी आदि। चौथे प्रकार के वे प्रतीक हैं जिनका संबंध सामाजिक जीवन से है जैसे–स्वामी, सेवक, गुलाम, ग्राहक, हाट, बाजार, चोर, खेत आदि। पांचवें प्रकार के प्रतीक जो पारिभाषिक हैं जैसे–अजपा-जाप, सहज, नाद, अनहद, शून्य, हरि, निरंजन आदि।" उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियां देखिए जिनमें 'छेवल' शरीर का, 'ईंट' हड्डियों का 'ढहना' मरने का प्रतीक है–

"कबीर देवल ढहि पड़या, ईंट भई सैवार।
करि चिंजारा सौं प्रीतड़ी, ज्यूं ढहि न दूजी बार।।"

कबीर के काव्य में संबंधमूलक प्रतीकों का भी सुंदर एवं सफल प्रयोग हुआ है। भारतीय साहित्य में आध्यात्मिक विचारों के प्रकाशन हेतु प्रतीक-शैली का आश्रय लिया गया है। कबीर साहित्य में भी इसका आश्रय लेकर अपने विचारों को स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। कबीर ने जीवात्मा को स्त्री, प्रेमिका तथा परमात्मा को पुरुष माना है। आत्मा अनंत प्रकाशमान प्रभु से मिलने के

हेतु व्याकुल रहती है। अंत में जाकर उसी से मिल जाती है। कबीर ने हिंदू-पद्धति के अनुसार ईश्वर को माता-पिता के रूप में भी देखा है तथा दाम्पत्य रूप में भी देखा है। कबीरदास ने विभिन्न संबंधों को निम्नलिखित उदाहरणों के माध्यम से व्यक्त किया है–

- "हरि जननी मैं बालक तोरा"
- "पिता हमारो बहु गुसाईं।"
- "हँसि हँसि कंत न पाइये।"
- "पूत पियारी पिता कौ।"
- "हरि मोरे पीव मैं राम की बहुरिया।"

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि आत्मा और परमात्मा की आपसी संबंध भावना को बालक, पिता, कंत, पुत्र, पिव, बहुरिया आदि शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया है।

कबीरदास ने एक स्थान पर जुलाहे के प्रतीक के माध्यम से जीवात्मा और परमात्मा के संबंध को अभिव्यंजित किया है। यहां विभिन्न प्रतीकों का एक साथ प्रयोग हुआ है–

कोरी को काहू मरम न जाना।
सधु जग आई तनाइओं ताना।।
जब तुम सुनि लै वेद पुराँना।
तब हम इतनकु पसरिओं तांना।।
धरनि अकास की करगह बनाई।
चंद सुरजु दुइ साथ चलाई।।
पाई जोरि बात इक कीनी तत तांती मन भावा।
जोलाहे धरू अपना चीन्हा घट ही राम पछाना।।

इसी प्रकार कुम्हार और माटी का रूपक बाँधकर अपने भावों को सुंदरतापूर्वक अभिव्यक्त किया है–

कुम्हार एक जो मांटी गूंथी,
बहु बिधि बानी लई।
काहू में महि मोती मुक्ताहल,
काहू बिआधि लगाई।।

यहाँ 'कुम्हार' ब्रह्म का, 'माटी' नश्वर शरीर का और 'मोती' ऐश्वर्य तथा वैभव का प्रतीक है।

कबीर के काव्य में सांकेतिक प्रतीकों की भी सुंदर एवं सफल योजना की गई है। नाथों द्वारा आरम्भ की गई इस परंपरा को कबीर ने आगे बढ़ाया है–

खट नेम करि कोटड़ी बाँधी।
वस्तु अनूप बीच पाई।

यहा 'कोठड़ी' शरीर का तथा अनूप आत्मा का प्रतीक है।

कबीर द्वारा हठयोगियों की भांति पारिभाषिक प्रतीकों का विधान भी अत्यंत सफलतापूर्वक किया है। उन्होंने सूर्य एवं चंद्र को क्रमशः पिंगला और इड़ा नाड़ियों के प्रतीक रूप में प्रयोग किया है। यथा–

"मन लागा उनमन्न सौं गगन पहुंचा जाइ।
देखा चदं बिहूँगा, तहां अलख निरंजन राइ।"

× × × × ×

"सूर समाणं चंद्र में दहूँ किया घर एक।
मन का च्यन्ता तव भया, कइ पूरबला लेख।।"

कबीर के काव्य में अनेक स्थलों पर संख्यामूलक प्रतीकों का योजना भी की गई है, जैसे–

- ब्रह्म; परमात्मा; प्राण।
- राग द्वेष; लोक-परलोक; द्विदल; आज्ञा चक्र।
- तीन गुण सत्, रज, तम; मन पवन सुरति; इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना।
- अंतःकरण चतुष्टय; चतुर्दल कमल।

- चरि–काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह।
  कहार–आंख, नाक, कान, जीभ, त्वचा।
  किसान–उपान, प्रान, समान, अपान, व्यान।

संख्यामूलक प्रतीक का यह उदाहरण भी दर्शनीय है–

चौंसठ दिया जोय के, चौदहा चंदा मांहि।
तेहि घर किसका चानाड़ो, जेहि घर गोबिंद नाहिं।

कबीर के काव्य में रूपात्मक प्रतीकों की भी सुंदर योजना हुई है। ये प्रतीक किसी रूपक विशेष के लिए कल्पित किये गए हैं। ऐसे स्थलों पर कबीर की रूपक योजना प्रतीकात्मकता का रूप धारण कर लेती है। कबीर ने रूपात्मक प्रतीक विधान के अंतर्गत अनेक स्थलों पर एक वस्तु एक से अधिक प्रतीकों की व्यंजना करती है। यथा–

- जीवात्मा–योगी, पुत्र, जुलाहा, पारथ आदि।
- इन्द्रियाँ–सखी, सहेली।
- संसार–सायर, बन।
- मन–मीन, मच्छ, सियार, हस्ती आदि।
- माया–नारी, माता, बिलैया।

"हरि मोर रहटा मैं रत्न पिडरिया।
हरि का नाम ले कवनि बहुरिया।।
छै मास तागा बरसा दिन कुकरी
चरखा न होय मुक्ति कर दाता।।"

सांकेतिक प्रतीक का यह उदाहरण भी दर्शनीय है–

आकसे मुखि औंधा कुआं पताले पनिहारि।
ताका पाणि को हंसा पीवें, बिरला आदि विचारि।।

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कबीर के काव्य में प्रतीकों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। प्रतीक विधान के कारण जहां काव्य में सजीवता का समावेश हुआ है, विषय भी आकर्षक बन गया है। कहीं-कहीं प्रतीकों की दुरूहता का समावेश भी हो गया है जिससे उन्हें समझना कठिन लगता है। संसार व दाम्पत्य संबंधी प्रतीकों में कबीरदास को विशेष सफलता मिली है। दुल्हा, बहुरिया, नारी, प्यारी आदि प्रतीकों के सफल प्रयोग से कबीर के काव्य को चार चांद लग गए हैं। प्रतीकों के कारण उनके काव्य में अनूठापन आ गया है। **डॉ. राम अवध द्विवेदी** ने कबीर की प्रतीक योजना के विषय में लिखा है, **"कबीर की कविता में प्रतीक भरे पड़े हैं।** उनमें कुछ का संबंध हठयोग की क्रियाओं से है किंतु कुछ अन्य विशुद्ध आध्यात्मिक हैं। भक्ति की विह्वलता और वियोग की पीड़ा, मिलन का आह्लाद इत्यादि प्रतीकों द्वारा अत्यंत सरलतापूर्वक व्यक्त हुए हैं।

◆◆◆

9. कबीर की भाषा

9. कबीर की भाषा की विवेचना कीजिए।

अथवा

कबीर के काव्य में प्रयुक्त भाषा का सोदाहरण विवेचन कीजिए। **(Most Imp.)**

अथवा

"भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे।" इस कथन के प्रकाश में कबीर के काव्य की भाषा की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

अथवा

कबीर के साहित्य की शक्ति उसकी भाषा है। इस विषय पर अपने विचार व्यक्त कीजिए। **(M.D.U. Aug. 2021)**

उत्तर–कबीर की भाषा–कबीरदास के काव्य की भाषा के स्वरूप को लेकर विद्वानों के विविध मत हैं। उनके काव्य की भाषा को किसी ने अवधी, किसी ने भोजपुरी, किसी ने सधुक्कड़ी, किसी ने राजस्थानी तो किसी ने विविध भाषाओं का मेल कहा है।

इन विविध मतों का सबसे बड़ा कारण तो यह रहा है कि उनकी काव्य-कृतियों का प्रामाणिक पाठ न मिलना। उनकी काव्य-कृतियों के जो संग्रह मिले हैं उनमें प्रयुक्त भाषा एक-दूसरे से मेल नहीं खाती, किसी प्रति के किसी अन्य भाषा के क्रियाओं और शब्दों के रूपों से। इस विवाद या मत विभिन्नता का कारण कबीर का यह दोहा भी रहा है–

"बोली हमारी पूरब की, हमें लावै नहीं कोय।
हमको तो सोई लखै, धुर पूरब का होय ॥"

इस दोहे के अर्थ को लेकर विद्वानों के दो वर्ग बन गए हैं जिनमें से एक इसके आध्यात्मिक अर्थ को लेता है तो दूसरा इसके भौगोलिक अर्थ को स्वीकार करता है। कबीर के काव्य की भाषा के विषय में विद्वानों ने जो मत दिये हैं, उनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं–

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर के काव्य की भाषा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है–

"साखी की भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी-पंजाबी मिली खड़ी बोली है, पर 'रमैणी' और 'सबद' में काव्य की ब्रज भाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है।"

डॉ. राम कुमार वर्मा ने कहा है–**"कबीर की बोली 'पूरबी' ही अधिक होनी चाहिए, क्योंकि उन्होंने कहा भी है कि उनका सारा जन्म शिवपुरी (काशी) में व्यतीत हुआ। प्रधान रूप से हमें उसमें पूर्वी हिन्दी (अवधी) व्याकरण के रूप ही मिलते हैं। कहीं-कहीं खड़ी, पंजाबी और ब्रज का भी रूप मिलता है।"**

डॉ. श्यामसुन्दरदास के अनुसार–**"कबीर की भाषा पंचमेल खिचड़ी है।"**

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर की भाषा पर अपना मत प्रकट करते हुए कहा है–**"भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में कहना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया– बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कबीर के सामने कुछ लाचार-सी नजर आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके। और अकह कहानी को रूप देकर, मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पाई जाती है। असीम ब्रह्मानन्द में आत्मा का साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणी के अगोचर पकड़ में आ सकने वाली ही बात है।"**

श्री सिद्धनाथ तिवारी ने कबीर की भाषा में बनारसी का ही अधिक प्रयोग बताते हुए अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं–**"संतों की भाषा सधुक्कड़ी होते हुए भी काफी प्रांजल और सरस है। ..... यह सधुक्कड़ी भाषा एक मिश्रित भाषा भाषी के रूप में हमारे सामने आती है जिसका सौंदर्य इसलिए भी अधिक बढ़ गया है कि इसमें अनेक बोलियों के कहीं-कहीं एकत्र दर्शन होते हैं और कथन में नाटकीयता आ जाती है। अजायबघर देखने में जो आनन्द मिलता है, वह आनन्द सतकाव्य की भाषा का अध्ययन करने पर मिलता है। .... जिस संत का निवास जिस प्रदेश में अधिक दिनों तक हुआ उस पर उसका प्रभाव विशेष रूप में पड़ा और प्रदेश की भाषा उसकी वाणी में घर कर गई। ..... यही कारण है कि कबीर की बोली बनारसी अधिक है।"**

डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने कबीर के काव्य की भाषा को लक्ष्य करते हुए कहा है–**"कबीर ने भिन्न-भिन्न प्रकार के भावों को भिन्न-भिन्न शैलियों में व्यक्त किया है और विभिन्न शैलियों में विभिन्न भाषाओं का प्रयोग किया है। उनके अनुसार कबीर की खण्डनात्मक रचनाओं में प्रायः खड़ी बोली या रेखता का प्रयोग किया गया है। भक्तिपरक रचनाओं में ब्रजभाषा है, जबकि रमैणी में अवधी की प्रधानता है।"**

उपर्युक्त मतों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कबीर की भाषा में दूसरी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। उनकी भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाले अधिकांश शोधकर्त्ताओं ने अपने निष्कर्ष में डॉ. श्याम सुन्दर दास के मत का समर्थन किया है। इन शोधकर्त्ताओं के निष्कर्षों में केवल इतना ही अन्तर है कि उन्होंने अपने-अपने ढंग से कबीर की भाषा के शब्दों के अनुपात में कमी या बढ़ोत्तरी दिखाई है। किन्तु सभी शोधकर्त्ता इस बात से सहमत हैं कि कबीर के काव्य की भाषा में पंजाबी, राजस्थानी, खड़ी बोली, ब्रज भाषा आदि के शब्दों का भरपूर प्रयोग हुआ है।

निःसन्देह कबीर के काव्य की भाषा में ब्रज भाषा का प्रयोग अधिक है। इनकी काव्य भाषा में अनेक बोलियों के शब्दों का प्रयोग होने के कारण उसे निश्चित नाम देना कठिन कार्य है। उनके काव्य की भाषा के नामकरण के लिए **"प्रधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति"** के सूत्र का सहारा लिया जा सकता है। कहने का तात्पर्य है कि उसमें जिस भाषा के क्रिया रूपों और शब्दों का सर्वाधिक प्रयोग मिले उस भाषा को ही कबीर के काव्य की भाषा मानना चाहिए। इस दृष्टि से कबीर के काव्य की भाषा का अध्ययन

करने पर पता चलता है कि उसमें ब्रज भाषा के ही शब्दों व क्रिया रूपों का प्रयोग हुआ है। हमें यह बात भी नहीं भूलनी चाहिए कि कबीर द्वारा प्रयुक्त ब्रज भाषा और परवर्ती ब्रजभाषा के स्वरूप में अन्तर है। अतः स्पष्ट है कि कबीर के काव्य की भाषा में ब्रजभाषा के साथ-साथ पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी, पंजाबी, अरबी-फारसी आदि शब्दों का पुट मिलता है। इसी तथ्य को देखकर ही विद्वानों ने कबीर के काव्य की भाषा को 'सधुक्कड़ी' भाषा कहा है।

कबीरदास के युग में संस्कृत ही धर्माधिकारियों की भाषा थी किन्तु लोक-जीवन में संस्कृत के प्रयोग का प्रचलन नहीं था। वहां संस्कृत का जीवित भाषा के रूप में प्रयोग नहीं किया जाता था। संस्कृत कुछ ही लोगों की भाषा थी। कबीरदास ने इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है–

"कबीर संस्कृत कूप जल, भाखा बहता नीर।"

यहाँ भाखा का अभिप्राय बोलचाल की भाषा से है। अतः स्पष्ट है कि कबीरदास अपने काव्य की भाषा के प्रयोग के प्रति सचेत थे। सर्जनात्मक भाषा सदा बोलचाल भाषा के अधिक निकट होती है। यद्यपि अमीर खुसरो काव्य-रचना बोल-चाल की भाषा में करना आरम्भ कर चुके थे फिर भी इसके प्रचार-प्रसार का महान् कार्य कबीरदास ने ही किया था। इस दृष्टि से कबीरदास को ही हिन्दी का प्रथम कवि माना जाना चाहिए। कबीर की भाषा की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

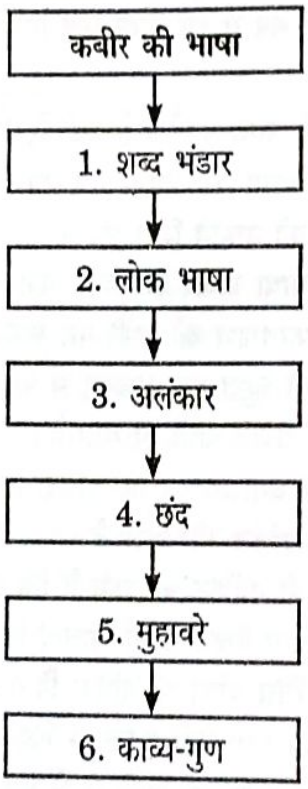

1. शब्द-भण्डार–यद्यपि भाषा शब्दों के सार्थक प्रयोग से ही बनती है किन्तु शब्द की सच्ची महत्ता उसके अर्थ पर निर्भर करती है। अतः किसी भी भाषा में शब्द-प्रयोग जितना होगा, उस भाषा में उतनी ही अधिक अभिव्यंजना शक्ति होगी तथा वह उतनी ही प्रभावशाली भी होगी।

शब्द मूलतः चार प्रकार के होते हैं जिनका प्रयोग कवि व लेखक अपनी भाषा में करता है–तत्सम, तद्भव, देशज और विदेशी। संस्कृत के जिन शब्दों का प्रयोग बिना किसी परिवर्तन के किया जाता है, उन्हें तत्सम शब्द कहते हैं, यथा–हस्त, अग्नि आदि। संस्कृत के जो शब्द परिवर्तित या बदले हुए रूप में हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं, उन्हें तद्भव शब्द कहते हैं। इनकी प्रमुख विशेषता यह है कि इनके अर्थ में विशेष अन्तर नहीं होता, जैसे–हस्त से हाथ, अग्नि से आग आदि। हिन्दी में ऐसे शब्दों की बहुलता है। बोलचाल की भाषा या बोलियों के शब्दों के शब्दों को **'देशज'** शब्द कहते हैं। 'माटी', 'रूदना' आदि इसके उदाहरण हैं। हिन्दी साहित्य में भारतीय भाषाओं छोड़कर अन्य भाषाओं के जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है, उन्हें विदेशी शब्द कहते हैं, जैसे अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि।

कबीर के काव्य में तत्सम शब्दों का भरपूर प्रयोग किया गया है। यद्यपि कवि का लक्ष्य कविता में चमत्कार उत्पन्न करना या कविता लिखना नहीं था उनका प्रमुख लक्ष्य तो जनता में ईश्वरी ज्ञान उत्पन्न करना या जन-जागरण करना था। इसलिए उनका आग्रह तत्सम प्रयोग करना नहीं था। सहज भाव से ही उनके काव्य में तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है।

यथा–

"गगुन गरजि, अमृत चवे, कदली कवल प्रकास।
तहाँ कबीरा बंदिगी, कै कोई निज दास ॥
सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत उघाड़िया अनंत दिखावणहार ॥"

इन काव्य पंक्तियों में गगन, अमृत, कदली निज, अनंत, महिमा, लोचन आदि तत्सम शब्दों का अत्यन्त सार्थक एवं सफल ग किया गया है।

कहा जा चुका है कि कबीर की वाणी में अपेक्षाकृत तद्भव शब्दों का ही अधिक प्रयोग हुआ है। इसका प्रमुख कारण तो है कि कबीरदास ने कभी मसि और कागद नहीं छुआ था।

"नांव न जाणौं गांव का, मारगि लागा जांउं।
काल्हि जु काटा भाजिसी, पहिली क्यूं न खड़ाउं ॥
कबीर यहु जग अंधला, जैसी अंधी गाइ।
बछा था जो मरि गया, अभी चाम चटाइ ॥"

इन काव्य पंक्तियों में नांव, गांव, अंधला, गाइ, मरि, बछा, चाम आदि तद्भव शब्दों का सफल प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार बीर ने अनेक शब्दों का रूप इतना बदल दिया है कि उसके मूल रूप को पहचानना कठिन हो जाता है, यथा–'विश्वास' शब्द स्थान पर उन्होंने 'बेसास' शब्द का प्रयोग किया है।

(i) देशज शब्द–कबीर ने अपने काव्य में साधारण बोल-चाल की भाषा या बोलियों के अनेक शब्दों का प्रयोग किया है। न्होंने देशज शब्दों का प्रयोग जन-साधारण को उपदेश देने के लक्ष्य से किया था तथा इसका दूसरा कारण उनकी भ्रमणशील वृत्ति है। उन्होंने विभिन्न स्थानों पर जाकर अपने उपदेशों का प्रचार-प्रसार किया था। इसलिए जिस प्रदेश या राज्य में गए उन्होंने हां की स्थानीय भाषा के शब्दों का प्रयोग किया। उदाहरणार्थ निम्नांकित काव्य-पंक्तियाँ देखिए–

"माटी कहै कुम्हार सूं, तूं क्यौं रूँदे मोय।
इक दिन ऐसा आएगा, मैं रूंदूगी तोय ॥"

इन पंक्तियों में माटी, सूँ, रूँदे, मोय, तोय आदि देशज शब्द हैं। इसी प्रकार कबीर के काव्य में राजस्थानी व पंजाबी भाषा के शब्दों का भी प्रसंगानुकूल एवं सार्थक प्रयोग देखते ही बनता है। यथा–

"मन लागा उनमन सौं, उनमन मनहि विलग्ग।
मारणहारा जामि है, कैजिहि लागि सोय ॥
× × × × ×
आँखड़िया झाईं पड़ी, पथ निहारि-निहारि।
जीभड़ियां छाला पड़्या, राम पुकारि-पुकारि ॥"

कबीर की रचनाओं में विसूरणां, रोवणं, सजवाँ, जाणि, छाँणि संताणि, आपण, रैणा आदि राजस्थानी भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है–

"चोट सताणी विरह की, सब तन जर जर होय।
मारणहारा जानि है कै, जिहि लागि सोय ॥"

इसी प्रकार कबीरदास ने व्रज प्रदेश की व्रज भाषा के शब्दों का भी भरपूर प्रयोग किया है जिसमें लेट्यो, रह्यो, पकरयौ, चल्यो, फिर्यौ, लीन्हौं आदि प्रमुख हैं। यथा–

"करता था तो क्यूँ रह्या, अब करि क्यों पछताय।
बोवे पेड़ बबूल का, आम कहाँ ते खाय ॥"

कबीरदास के काव्य में खड़ी बोली के शब्दों का भी भरपूर प्रयोग हुआ है। यथा–

"आऊँगा न जाऊँगा, मरूँगा न जीऊँगा।
गुरु के सबद में, रमि रमि रहूंगा ॥"

इन पंक्तियों में आऊँगा, मारूँगा, जाऊँगा, जीऊँगा आदि शब्द खड़ी बोली हिन्दी के हैं। इसी प्रकार चित, भागा, लागा, धागा, टूटा आदि अनेक खड़ी बोली के शब्दों का प्रयोग कबीर की वाणी में देखा जा सकता है।

कबीरदास के काव्य में अवधी तथा पूर्वी हिन्दी के शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। अवधी और पूर्वी भाषाओं के क्रमशः निम्नलिखित उदाहरण देखिए–

"कहा तिन सो कहौं दया जिनकी नहीं घात बहुत करैं बकुल यावनी।
दुर्मति जीवन की दुबिध छूटे नहीं, जन्म जन्मात पड़े नर्क खानी।"

× × × × ×

"दात यल मोर पान खात।
केस गयल मोर गंग नहात॥"

(ii) विदेशज शब्द–कबीर के काव्य में तत्कालीन समाज में प्रचलित फारसी के शब्दों का भी प्रसंगानुकूल सफल प्रयोग किया है। कहीं-कहीं तो उन्होंने अरबी-फारसी के शब्दों की झड़ी-सी लगा दी है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित काव्य-पंक्तियाँ देखिए–

"खलिक हरि कही दरहाल।
पंजर जसि करद चुसमन मुरद करि पैमाल।
भिस्त हुस्को दोजगां, दुंदर दराज दिवाल।
पहनायैं परदा ईत आतस, जहर जंगया जाल ॥"

× × × × ×

"हम रफत रह बरहु समाँ मैं खुदी सुमां बसियार।
हम जमीं आसमाँ खालिक, गुंद मुसकिल कार ॥"

उपर्युक्त विवेचन से पता चलता है कि कबीर के काव्य की भाषा का अथाह शब्द-भंडार है। उनकी भाषा की प्रमुख विशेषता है कि जब वे किसी भी प्रसंग को लेते हैं तो उसके अनुकूल ही भाषा व शब्दावली का प्रयोग करते हैं। यही उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दों का प्रमुख स्रोत है। जब वे किसी साधक को सम्बोधित करते हैं तो उनकी शब्दावली साधनात्मक हो उठती है–

"चित तरउवा पवन पेदा सहज मूल बांधा।
ध्यान धन जोग करम, ग्यान बांन सांधा।
षट चक्र कंवल देघा, जारि उजारा की हों।
काम क्रोध लोभ मोह, हाकि स्यावज दी हाँ ॥"

इसी प्रकार जब कबीरदास हिन्दू धर्म से सम्बन्धित लोगों को सम्बोधित करते हैं तो उस धर्म से सम्बन्धित शब्दावली का प्रयोग करते हैं। इसी तरह जब मुसलमान धर्म की बात करते हैं तो उनकी भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों का समावेश हो जाता है। यथा–

"बंदे खोजु दिल हर रोज नां फिर परेसानी नाहिं।
यह जु दुनिया सिहरु मेला कोई दस्तगारी नाहिं ॥"

अतः स्पष्ट है कि कबीर की भाषा में विभिन्न प्रकार के शब्दों का प्रयोग हुआ है। जिसके कारण विद्वानों ने उनकी भाषा को 'खिचड़ी भाषा' कहा। परन्तु उनकी भाषा की अभिव्यंजना शक्ति का प्रमुख कारण भी विभिन्न भाषाओं के शब्दों का प्रयोग ही है। सभी विद्वान् इस बात से पूर्णतः सहमत हैं।

2. लोक भाषा–कबीर की भाषा की अन्य प्रमुख विशेषता है कि वह तत्कालीन सामान्य लोक-जीवन से जुड़कर चलती है। उस युग के लोक-जीवन की परम्पराओं, व्यवसायों आदि से सम्बन्धित शब्दों का प्रयोग इनकी भाषा में सफलतापूर्वक हुआ है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए–

"कुंमार ह्वै करि बासन धरिहूँ, धोबी ह्वै मल धोऊँ,
चूमरा ह्वै करि रंगौ अघौरी, जाति-पांति कुल खोऊँ।
तेली ह्वै तन कोल्हू करिहौ, पाप पुनि दोऊ पीरौं,
पंच बैल जब सूध चलाऊँ, राम जेवरिया जोरूँ ॥

कबीर के काव्य की भाषा में सरलता और टूकपन दोनों विशेषताओं को एक साथ देखा जा सकता है। वे अपनी बात को बिना किसी लाग लपेट के कहना पसन्द करते थे। उनकी भाषा की यह विशेषता उनके निर्भीक व्यक्तित्व के धनी होने को सिद्ध करती है। कबीर की भाषा की इस विशेषता पर प्रकाश डालते हुए **डॉ. श्यामसुन्दर** ने लिखा है–"कहीं-कहीं उनकी भाषा में गंवारूपन झलकता है किन्तु उनकी बातों में खरेपन की मिठास है, जो उन्हीं की विशेषता है और उनके सामने यह गंवारूपन डूब जाता है।"

कबीर के काव्य की भाषा न तो सिद्धियों की भाषा है, न नाथ पंथी योगियों की और न शैवो व वैष्णवों की। कबीर ने अपनी ही भाषा का प्रयोग किया है, जिस पर उनके देशाटन, उनकी शिष्य मण्डली तथा सहज साधु समाज का प्रभाव है। जो लोग कहते हैं कि कबीर की अपनी कोई भाषा नहीं है, वे भाषा के मर्म को नहीं समझते। कबीर अपने समय के जन कवि थे और उन्होंने सरल जन भाषा का ही प्रयोग किया है जो उस समय व्यापक रूप में जन-साधारण में प्रचलित थी। उनकी भाषा में सर्वत्र सहजता एवं स्वाभाविकता है, बनावटीपन नहीं है। यह वह भाषा है जो गुजरात से बिहार तक और पंजाब से दक्षिण तक बोली जाती है। इसे स्वाभाविक वोलचाल या जन-भाषा कहा जा सकता है। उनकी इस सहज एवं स्वाभाविक भाषा का निम्नलिखित उदाहरण देखिए–

"सतगुरु हम पर रीझि कर, एक बह्या प्रसंग।
बरस्या बादल प्रेम का, भीज गया सब अंग ॥"

3. अलंकार–कबीर के काव्य की भाषा में अलंकारों का भी सहज एवं स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। वास्तव में कबीर ने अपने काव्य में अलंकारों का प्रयोग काव्य को सजाने के लिए नहीं किया था। वे तो उनकी भाषा में आवेग से स्वतः ही आ गए थे जिस प्रकार सागर तरंगों की थिरकनों से रत्न राशि बिखर जाती है। इसीलिए कबीर के द्वारा प्रयुक्त अलंकार सर्वत्र उनकी अभिव्यंजना शक्ति को बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुए हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित दोहा देखिए जिसमें उपमा एवं दृष्टांत अलंकारों का सहज एवं स्वाभाविक प्रयोग हुआ है–

"पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जाति।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा प्रभाति ॥"

4. छंद–कबीर ने अपने काव्य में दोहा छंद का ही अधिक प्रयोग किया है। कबीर ने दोहा छंद के प्रयोग के द्वारा अपने काव्य में अनेक विचारों को एक साथ सफलतापूर्वक अभिव्यंजित किया है। जो बात बिहारी के दोहों के विषय में 'गागर में सागर' भरने की कही जाती है यदि यह बात कबीर के दोहों के विषय में कही जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। कबीर का एक-एक दोहा अपने गहन विचारों को समेटे हुए हैं, जैसे–

"दूरि भया तो का भया, सिर दे नेड़ा होइ।
जब लग सिर सौंपे नहीं, कारिज सिधि न होइ॥"

× × × × ×

"चंदन की कुटकी भली, नां बंबूर की अबराउँ।
वैश्नौ की छपरी भली, नां साकत का बड़गांऊ ॥"

दोहा छंद के अतिरिक्त कबीरदास ने अपने पदों में रामकली, गौड़ी आसावदी, कदारौ, कास, दिलावल, ललित, बसंत, कल्याण, सारंग, मलार और घनाश्री आदि रागों का प्रयोग भी किया है।

5. मुहावरे–कबीरदास ने अपनी भाषा को प्रभावशाली रूप प्रदान करने के लिए लोक प्रचलित मुहावरों एवं लोकोक्तियों का सार्थक प्रयोग किया है। मुहावरों के प्रयोग से जहाँ भाषा में लाक्षणिकता का समावेश हुआ है। वहां सारगर्भिता के गुण की वृद्धि भी हुई है। कबीरदास ने यथावसर एवं प्रसंगानुकूल मुहावरों एवं लोकोक्तियों का प्रयोग किया है जैसे–

"पाँव कुल्हाड़ी मारिया, मूरख अपने हाथ।"

इस पंक्ति में **'पांव पर कुल्हाड़ी मारना'** मुहावरे का सुन्दर एवं सार्थक प्रयोग किया गया है। कबीर ने मुहावरों की भांति ही लोकोक्तियों का प्रयोग भी किया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित काव्य पंक्तियाँ देखिए–

"आधे दिन पाछे गये, हरि सै कि न हेत।
अब पछताए होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत ॥"

6. काव्य-गुण–कबीरदास की काव्य की भाषा में वैसे तो तीनों गुणों (प्रसाद, माधुर्य एवं ओज) का प्रयोग हुआ है, किन्तु ओज गुण का अपेक्षाकृत कम प्रयोग हुआ है। प्रसाद एवं माधुर्य गुणों का ही अधिक प्रयोग हुआ है। जहां कवि उपदेश देने लगता है या सुधारात्मक प्रवृत्ति बलवती हो उठती है, वहां प्रसाद गुण का ही मुख्यतः प्रयोग हुआ है। कबीर की प्रसाद गुण सम्पन्न काव्य-रचनाएं अत्यन्त सरल, सुबोध एवं स्वाभाविक बन पड़ी हैं। उदाहरणार्थ निम्नांकित दोहा देखिए–

"यह ऐसा संसार है, जैसा सैंबल फूल।
दिन दस के ब्योहार कौं, झूठे रंगि न भूल ॥"

कबीर की रचनाओं में माधुर्य गुण से युक्त भाषा का प्रयोग भी यथास्थान हुआ है। जैसे–

"बहुत दिनन की जोवती, बाट तिहारी राम।
जिय तरसैं तुझ मिलन को, मनि नाही विश्राम ॥"

अतः उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि कबीर का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। उन्होंने भाषा के मर्म को समझते हुए ही अपनी वाणी में लोक भाषा का प्रयोग किया है। उनकी भाषा में विविध बोलियों व भाषाओं के शब्दों का सुखद संयोग है। इससे उनकी भाषा की अभिव्यंजना शक्ति व संदेश-वाहक शक्ति में वृद्धि हुई है। उनकी भाषा में सभी प्रमुख गुण पाये जाते हैं जो एक सबल एवं समृद्ध भाषा के लिए अपेक्षित हैं। कबीर की भाषा की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि उसकी सम्प्रेषणीयता है। उसमें कलात्मकता का पुट भले ही कम हो किन्तु अनुभूति का तीक्ष्ण पौरुष उसमें सर्वत्र देखा जा सकता है, जिसने उसे अत्यन्त प्रभावशाली बना दिया है। अतः डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर की भाषा के विषय में ठीक ही कहा है–**"भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। ····· भाषा कबीर के सामने कुछ लाचार सी नजर आती है। उसमें मानो हिम्मत ही नहीं कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी परमाइश को ना कर सके और अकथ कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की जैसी ताकत कवीर की भाषा में है वैसी कम लेखकों में पाई जाती है।"**

◆◆◆

10. कबीर के पारिभाषिक शब्द

10. कबीर साहित्य में प्रयुक्त निम्नलिखित पारिभाषिक शब्दों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए– (Imp.)
अलख, सहज, शून्य, निरंजन, खसम, उन्मनि, अजपा जाप, अनहद नाद, सुरति-निरति, नाद-बिंदु, औंधा कुँआ।

उत्तर–कबीर साहित्य के पारिभाषिक शब्द–कबीर के काव्य में कुछ कठिन शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनके अर्थ समझे बिना पाठक कबीर के काव्य का पूर्ण आनन्द नहीं प्राप्त कर सकते क्योंकि शब्द के अर्थ को हृदयंगम किये बिना उसे रसानुभूति हो ही नहीं सकती। अतः स्पष्ट है कि विशिष्ट शब्दों के अर्थ की तह तक जाए बिना आनन्दानुभूति संभव नहीं। कुछ शब्द उलटबांसियों में प्रयुक्त किये गए हैं जो साधारण व्यवहार के विपरीत अर्थ देते हैं, उन्हें समझना भी आवश्यक है। इसके साथ ही कुछ ऐसे शब्द भी कबीर की वाणी में प्रयुक्त हुए जो बौद्ध और सिद्ध साहित्य से संबंधित हैं। कुछ शब्द योग-साहित्य से भी लिए गए हैं। कबीर के काव्य में प्रयुक्त परम्परागत शब्दों के अर्थ परम्परा-मुक्त सर्वथा मौलिक हैं। अतः पाठकों के भ्रमित होने की आशंका रहती है। कभी-कभी उनके यथावत् अर्थ समझने के कारण सरल से सरल वाक्यों के अर्थ भी कठिन जान पड़ते हैं। कबीर काव्य में ऐसे शब्दों की संख्या अत्यधिक है। इसलिए सभी पारिभाषित शब्दों को यहां देना संभव नहीं है। इसलिए केवल पाठ्यक्रम में संकलित शब्दों के अर्थ ही यहां स्पष्ट करना समीचीन है–

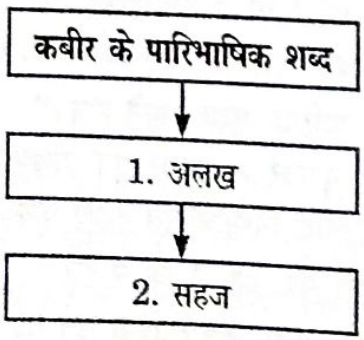

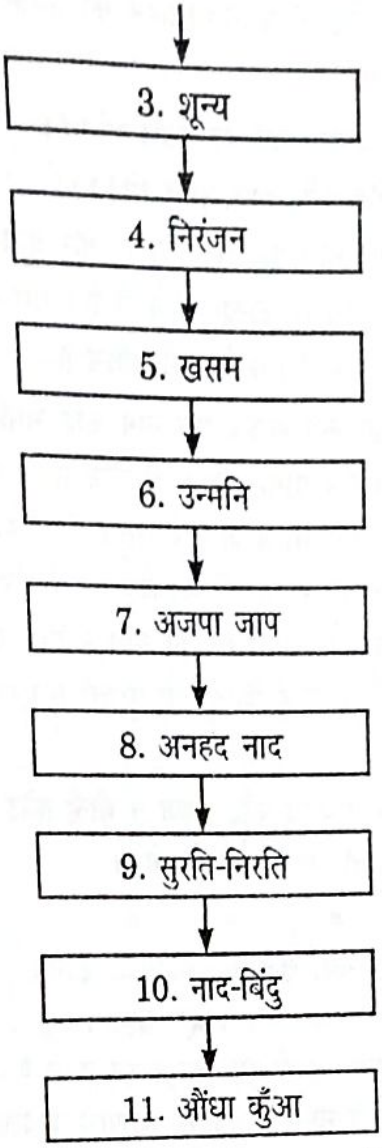

1. अलख–कबीर साहित्य में **'अलख'** शब्द का यत्र-तत्र भरपूर मात्रा में प्रयोग हुआ है। अलख का शब्दिक अर्थ है–जो दिखाई न दे। परंतु कबीरदास ने इस शब्द का प्रयोग अपने निर्गुण-निराकार ब्रह्म के संदर्भ में किया है, जो वस्तुतः दिखाई नहीं देता। उसे केवल अनुभव किया जा सकता है–

"अलह अलख निरंजन देव, किहि विधि करौं तुम्हारी सेव।
विश्व सोई जाको विस्तार, सोई कृस्न जिनि कीयौ संसारा।।"

'अलख' शब्द का प्रयोग कबीर साहित्य में अधिकांशतः निरंजन शब्द के साथ हुआ है, जो ईश्वर के अगोचर होने का संकेत देता है।

2. सहज–कबीर वाणी में सहज शब्द का व्यापक प्रयोग मिलता है। उन्होंने सहज के साथ सहज मुख, सहज साधना, सहजशील आदि शब्दों का प्रयोग भी किया है। अतः इससे पता चलता है कि 'सहज' कबीर दर्शन एवं साधना का मूलाधार शब्द है। 'सहज' शब्द प्राचीनकाल से प्रचलित है। इस परम्परागत शब्द का प्रयोग सिद्धों ने अपनी साधना की विशिष्टता को प्रकट करने हेतु किया है। तिल्लोवाद के शब्दों में–

"सहजै भावा सहजै भावणा पुच्छह।
सुण्ण करुण वहि सम रस इच्छह।।"

नाथपंथियों ने भी 'सहज' के अस्तित्व को स्वीकार किया है। सिद्ध लोग तो सहज साधना के सामने निर्वाण तक को महत्त्वहीन समझते हैं। गोरखनाथ ने इस शब्द का प्रयोग समरसता एवं स्वभाविकता के लिए किया है।

कबीरदास ने भी 'सहज' शब्द का प्रयोग खूब किया है। वे नाथपंथियों की भाँति **'संतों सहज समाधि भली'** कहते हैं तो कहीं सिद्धों के शून्यवत् सहज तत्व को नाथपंथियों की भांति निराकार अवर्णनीय तत्व के समान व्यवहार में लाते हैं। वे उसे भक्ति के रंग में रंगकर प्रस्तुत करते हैं। 'सहज' कबीर के लिए परमात्मा के साक्षात्कार का साधन है, साध्य नहीं। कबीर

के सहज को जानने के लिए वेद, पुराण, शास्त्रादि के पढ़ने-विचारने की आवश्यकता नहीं क्योंकि वे उसे ज्ञान का पहाड़ नहीं बनाना चाहते, वे तो उसे निरायास प्राप्त कर लेते हैं--

का पढ़िए का गुनिए। का वेद पुरान सुनिए।
पढ़े गुने मति होई। मैं सहजै पाया सोई।।

कबीरदास का 'सहज' सहज योग है, राम नाम की अराधना है और कुछ नहीं। यहाँ योग से अभिप्राय लौ लगाने से है। सारी बहिवृर्त्तियाँ हृदस्थ केन्द्रित करके साध्य के प्रेम में केन्द्रित होने से है। राम-नाम में ध्यान लगाने से भक्ति दृढ़ होती है और 'सहज समाधि' द्वारा आत्मस्वरूप का परिचय होता है। कबीर का कथन है–

"सहजै राम नाम ल्यौ लाई। राम नाम कहि भगति दिढाई।
राम नाम जाका मन माना। तिन तो निज सरूप पहिचाना।"

कबीरदास का मत है कि ईश्वर-स्मरण करना सहज कार्य है उसके लिए हठ की आवश्यकता नहीं है और न ही शरीर को किसी प्रकार का कष्ट देने की और न ही बहुत बड़े त्याग की आवश्यकता है। सांसारिक कार्यों को करते हुए उसकी साधना में सफलता प्राप्त की जा सकती है। केवल मन को वश में करने की बात है फिर वह परमतत्त्व सहज रूप में मिल सकता है। जो इस तथ्य को नहीं जानते और सहज-सहज कहते रहते हैं किन्तु उसे पूर्णतः समझकर व्यवहार में नहीं लाते, वे कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते–

"सहज सहज सब कोउ कहै, सहज न चीन्है कोइ।
पांचू राखै परस तौ सहज कही जै सोइ।
× × × × ×
सहजै सहजै सब गये, सुत बित कामणि, काम।
एक भेद है मिलि रह्या दास कबीरा राम।।

कबीरदास 'सहज' शब्द को समझने के पश्चात् ही राम का भजन करते हैं। 'सजह धुनि' शब्दों का प्रयोग वे अनहद नाद के लिए करते हैं। 'सहज बेलि' शब्द का प्रयोग वे माया के विविध व्यापारों के लिए भी करते हैं। 'सहज रूप' का प्रयोग वे हरि के विशेषण के रूप में भी करते हैं–

सहज बेलि जल फूलण लागी, डाल कूयल मेल्ही।
बेलड़िया द्वै अर्णी पहुंती गगन पहुंती सैली।।
× × × × ×
अब मैं पाइबो रे ब्रह्मगियान।
सहज समार्धे सुख में रहिबो कोटि कलप विश्राम।

कबीरदास ने सहज शब्द के साथ भाइ (भाव) जोड़कर उसे स्वभावतः के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है। सहजशील कहकर कबीर साहब सहज आचरण करने पर बल देते हैं। अतः स्पष्ट है कि कबीर विभिन्न अर्थों में सहज शब्द का प्रयोग करते हैं। वे हर क्षेत्र में सहज का प्रयोग कर जीवन को सहजता से जीते हुए परमतत्त्व को प्राप्त करने का उपदेश देते हैं–

राम नाम सहजै ल्यौ लाई।

3. शून्य-नाद-बिन्दु–कबीर के काव्य में 'शून्य' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है। कबीर ने इस शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया है। भारतीय वाङ्मय में शून्य शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से होता रहा है। स्वामी शंकराचार्य ने **"सर्वे विशेष सहित्यात् शून्यवत् शून्यम्।"** कहकर शून्य को परिभाषित किया है। वेदान्त दर्शन के अनुसार शून्य अखिल सत्ता का बोधक है। बौद्ध अनुयायी नागार्जुन ने इसका खूब प्रचार-प्रसार किया। नागार्जुन के अनुसार शून्य को न तो 'शून्य' कह सकते हैं और न 'अशून्य' कह सकते हैं। इसे 'शून्याशून्य' अथवा 'न शून्य' और 'न अशून्य' कहना भी उचित नहीं है। वह इन चारों से विलक्षण है–

शून्यामिति न वक्तव्यं अशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं नैव प्रज्ञप्तयर्थ तु कथ्यते।

आगे चलकर योगियों व नाथों ने इस शब्द को विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त किया। इसे देशकालातीत ब्रह्मवाचक शब्द के रूप में प्रयोग किया तथा तत्पश्चात् इसे ब्रह्मरन्ध्र का वाचक भी बताया जो कि विचित्र स्थान का सूचक है। गोरखनाथ के अनुयायियों

ने इसके साथ नाद को भी जोड़ दिया किन्तु गुरु गोरखनाथ ने 'शून्य' शब्द के विषय में **'गगन मंडल में सुनिद्वार'** कहकर इसको प्रतिष्ठित किया है। गुरु गोरखनाथ का मत है कि श्वोसोच्छवास के बीच केवल कुचक्र की क्रिया द्वारा उस तक पहुँचा जा सकता है।

''अरध-उरध विचि धरई, मधि सुनि में बैठा जाई।''

आगे चलकर नाथपंथियों ने 'शून्य' शब्द को गगन के रूप में भी प्रयोग करना आरम्भ कर दिया था। इस प्रकार 'शून्य' शब्द को समयानुसार व्यापकता प्राप्त हुई है।

अतः स्पष्ट है कि कबीरदास के युग तक यह शब्द ब्रह्मरन्ध्र, ब्रह्मा, सषुम्ना नाड़ी, अनाहत चक्र, समाधि अवस्था आदि के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था। कबीरदास ने नाथ सम्प्रदाय से प्रभावित होने के कारण इस शब्द का प्रयोग ब्रह्मरन्ध्र व सुषुम्ना के लिए किया है, यथा–

गंग जमुन उन अंतरै, सहज सुनि ल्यों घाट।
तहां कबीरा मठ रच्या, मुनि जन जीवै बाट।।
ऐसा कोई न मिलै, सब विधि देइवताय।
सुनिमंडल में पुरुष इक, ताहि रहै ल्यौ लाय।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के द्वारा प्रयुक्त शब्द 'शून्य' पर विचार व्यक्त करते हुए कहा है, ''कबीरदास ने 'शून्य' और 'सहज' से जिस प्रकार की समाधि की बात कही है, वह योगियों की सहजावस्था से भिन्न है। वे उस संत को अपना सारा जप-तप दलाली से भेंट कर देने को तैयार थे जो उन्हें सहज सुख के योग बना दे, जो उन्हें राम-रस की एक बूंद चखा दे। यह राम ही उनकी सहजावस्था का सुख है। इस राम-रस का आस्वादन उन्होंने सहज-शून्य में किया था। इसी राम-रस से शिव सनकादि मत्त हो गए थे।''

कबीर का 'शून्य' और योगियों का गगनमण्डल या सहस्रदल-चक्र एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। इसे ही उन्होंने शून्य कहा है। कहीं वह 'गगनधर कीजै', तो कहीं 'पंपी उड़ानी गगन कूं' 'उड़ी चढ़ही असमान' तथा 'सूनी मण्डल पुरिष एक, ताहि रहियं ल्यौ लाई', की बात करते हैं। कबीर ने 'शून्य आकाश' तथा 'गगन' को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। षट्चक्रों को भेद कर कुण्डलनी जब अन्तिम चक्र में पहुँचती है जिसमें सहस्रदल का कमल होता है, उसी को शून्य मण्डल कहा जाता है जो साधक यहां शिव का स्थान मानते हैं वह इसे 'कैलाश' की भी संज्ञा देते हैं।

कबीर का 'शून्य' बौद्धों के शून्यवाद और महायानियों एवं नाथों के शून्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मुख्यतः उनका शून्य 'सहस्र-दल के कमल' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कहीं-कहीं केवलावस्था में भी प्रयुक्त हुआ है–

अवधू गगन मण्डल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै।
अंक नलि रस पी कै।

कबीरदास के युग में ही लोगों ने 'शून्य' के महत्त्व का दुरुपयोग करना आरम्भ कर दिया था। इस संबंध में डॉ. परशुराम चतुर्वेदी ने उचित ही लिखा है–

फिर भी जान पड़ता है कि लोगों ने इस 'शून्य' के महत्त्व का दुरुपयोग करना आरम्भ कर दिया। इसे देवलोक जैसा समझा जाने लगा तो इसके प्रति वैसी श्रद्धा नहीं रह गई और केवल 'शून्य' की भक्ति की निःसारता दिखलाने के लिए कबीर-बीजक में कहा गया है–

मनमथ मरै न जीवै, जीवहिं मरन न होय।
सुन्य सनेही रामबिनु, चलै अपनपौ खोय।।''

4. निरंजन–'निरंजन' शब्द का भारतीय दार्शनिक एवं योगपरक साहित्य में अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है। उपनिषदों में इसका अर्थ अंजन रहित अर्थात् निर्लिप्त, माया-मुक्त बताया गया है। सिद्धों एवं संतों की साधना में इस शब्द का प्रयोग एक खास अर्थ में हुआ है। इसका अर्थ **'अंजन रहितः स निरंजनः'** से भी हम ले सकते हैं। यहां अंजन का अर्थ है माया। इसलिए हम कह सकते हैं कि जो माया-रहित है वह निरंजन है। निरंजन का तात्पर्य अज्ञान रहित, निर्मल, निर्विकार 'निर्गतः गुणात् यस्मात्' त्रिगुणातीत से होता है। सिद्धों ने इसका अर्थ शून्य के रूप में लिया है। नाथपंथी योगियों ने निरंजन का स्थान सर्वोच्च माना है। चौरंगीनाथ ने कहा है–

''सेइबा तो निरंजन निराकार।''

अतः स्पष्ट है कि नाथ-पंथियों के यहां ब्रह्मरन्ध्र में अवस्थित निर्गुण ब्रह्म का यह शब्द वाचक था। पाशुपत दर्शन में भी इस शब्द का प्रयोग पाया जाता है। आगे चलकर 'निरंजन' सम्प्रदाय भी प्रचलित हुआ जो अपने आप को 'निरंजनी' कहते थे। कबीरदास ने निरंजन शब्द का प्रयोग करते हुए प्रायः नाथों का अनुकरण किया है। उन्होंने जहां भी 'निरंजन' शब्द का प्रयोग किया है वहां बहुत विनम्र होते हुए उसके प्रति आदर एवं भक्तिभाव को दर्शाया है। राम की भांति ही वे निरंजन का स्मरण करने का उपदेश देते हैं। माया के आवरण के कारण ही जीव निरंजन का साक्षात्कार नहीं कर सकता। वह माया से भ्रमित होकर सांसारिक मोह में फंसा रह कर अपने वास्तविक लक्ष्य से वंचित रहता है। कबीर ने कहा है–

अलख निरंजन लावै न कोई जेहि वंधे बंधा सम लोई।
जिहि झूठे बंधा सो अयाना, झूठा वचन सोंच करियाना।

कबीर निरंजन तथा राम को एक ही रूप में स्वीकार करते हैं। वे 'राम'–'निरंजन' का एक और नाम बतलाते हैं और उस नाम की सार्थकता को सिद्ध करते हुए कहते हैं कि जो कुछ दृश्यमान है, जगत है, वह सभी अंजन हैं और निरंजन इससे न्यारा और अद्भुत है। वह विराट पुरुष प्रकृति के कण-कण में व्याप्त है और सब उसमें रह रहे हैं। वह सब में रमा हुआ है। कबीर की दृष्टि में निरंजन ही एकमात्र 'सारतत्त्व' मानते हैं और उसका ध्यान करने का उपदेश देते हैं–

राम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे।।
अंजन उतपत्ति दो उंकार, अंजन मांहूया सब विस्तारा।
अंजन बाँणी अंजन वेद, अंजन कीमा नाँनाँ भेद।
अंजन विद्या वेद पुराना, अंजन फोकट कथहिं गियाना।
अंजन णा तो अंजन देव, अंजन को करै अंजन सेव।
अंजन नाचै अंजन गावै, अंजन भेष अनेक दिखावै।
अंजन कहौ कहां लग केता, दान पुनि तप तीरथ जेता।
कहै कबीर कोई बिरला जागै, अंजन छाड़ि निरंजन लागै।

कबीर ने निरंजन शब्द का प्रयोग परमतत्त्व के लिए किया है तथा वे उसे निर्गुण निराकार रूप में मानते हैं। वह ज्ञान से परे है क्योंकि निराकार और निर्लिप्त है। प्रेम से प्राप्त किया जा सकता है। वह अनुभूति का विषय है। किसी शास्त्र आदि से भी उसका पता नहीं चल सकता क्योंकि उसकी गति वह स्वयं है। कबीरदास ने उसके विषय में लिखा–

गोप्यंदे तू निरंजन तू निरंजन तू निरंजन राया।
तेरे रूप नाहीं देखा नहीं मुद्रा नाहीं माया।
समद नाहीं सिषर नाहीं, छाती नाहीं गगनां।
रवि ससि दोऊ एकै नाहीं, बहत नाहीं पवना।
नाद नहीं, ब्यंद नहीं, काल नहीं कामा।।
जब तै जल ब्यंदन होते, तब तू ही राम रामा।
जप नाहीं, तप नाहीं, जोग ध्यान नहीं पूजा।
सिव नाहीं, सकली नाहीं, वेद नहीं दूजा।
सगन जुगन स्यॉम अथरबन, वेद नहीं ब्याकानाँ।
तेरी गति तू ही जानै, कबीरा तौ सरनाँ।

कबीर ने निरंजन शब्द को राम के लिए प्रयुक्त किया है। इसके साथ ही **'एक निरंजन अल्लाह मेरा'** कह कर एक अद्भुत स्थिति उत्पन्न कर दी। यदि ध्यान से देखा जाए तो अल्लाह, राम, निरंजन, उनके आराध्य परमात्मा के ही वाचक हैं और कुछ नहीं। निम्नांकित पंक्तियों से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है–

एक निरंजन अलह मेरा, हिन्दु तुरक दुहू नहीं नेरा।
राखूं व्रत न मरहम जांना, तिसही सुमिरूं जो रहै निदांनां।
पूजा करूं न निमाज गुजारू, एक निराकार हिरदै नमसकारूं।
न हज जांउ न तीरथ पूजा, एक पिछांणा तौ का दूजा।
कहै कबीर मरम सब भागा, एक निरंजन सूं मन लागा।

एक अन्य स्थल पर कबीर साहब कहते हैं कि मेरा मन उन्मत्त (परमतत्त्व) में लग गया है। मैंने उस 'निरंजनराइ' को चित्त ब्रह्मा के फैली हुई चांदनी में देखा है–

मन लागा उनमन्न सों, गगन पहुँचा जाइ।
देख्या चंद बिहूँणाँ, तहाँ अलख निरंजन राइ।

कबीर साहब निरंजन के साथ अलख विशेषण का प्रयोग भी करते हैं। डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत का मत है कि **"कबीर ने निरंजन शब्द का प्रयोग उस अर्थ में कभी नहीं किया था जिस अर्थ और रूप में वह कबीर पन्थियों में मान्य है, उन्हें हम कबीर की प्रामाणिक रचनाएँ नहीं मानते। 'कबीर ग्रन्थावली' और 'संत कबीर' में ढूंढने पर एक भी ऐसा स्थान नहीं मिलता जहां उन्होंने निरंजन का प्रयोग उसी अर्थ में किया हो जिसमें वह कबीर पंथ में प्रचलित है।"**

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कबीरदास ने मूलतः 'निरंजन' शब्द का प्रयोग निराकार ब्रह्म के लिए किया है जो, अनादि, अनन्त, अविगत, अलख, सर्वव्यापक है। उसके ध्यान करने से मानव को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

5. खसम–डॉ० सरनाम सिंह के अनुसार **'कबीर ग्रन्थावली'** में 'खसम' शब्द का प्रयोग 26 स्थानों पर हुआ है। इस का अर्थ है–पति, स्वामी, ब्रह्म या परमात्मा। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार 'खसम' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सिद्ध साहित्य में मिलता है। वे इसका अर्थ करते हैं–ख = आकाश, शून्य + सम = समाना अर्थात् शून्य के समान। कुछ ऐसा ही प्रयोग संस्कृत साहित्य में भी मिलता है–आकाशवत् सर्वगतश्च पूर्णः। लेकिन खसम शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। सिद्ध साहित्य में 'खसम' शब्द का प्रयोग शून्यवत्, व्यापक तथा उज्ज्वल मन के लिए हुआ है। यह शून्यावस्था (सहजावस्था) का भी बोधक है। मन की यह स्थिति निर्विषय और निरवलंब जैसी है। इसके साथ-साथ सिद्धों ने कुछ स्थलों पर 'खसम' शब्द का प्रयोग पति के लिए भी किया है।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार– **"जब यह शब्द कबीरदास तक पहुँचा तब तक उससे मिलता-जुलता एक अरबी शब्द खसम (पति) भारतवर्ष की सीमा में पहुँच चुका था। अतएव कबीरदास को यह शब्द दो मूलों से प्राप्त हुआ। हठयोगियों के मध्य यह आत्मा के शून्य चक्र में पहुँचकर समभाव की अवस्था को प्राप्त होने के अर्थ में आया और मुसलमानी माध्यम से पति के अर्थ में। फिर भी सिद्धों का खसम कबीर का खसम (ब्रह्म) बन गया।"**

कबीरदास द्वारा खसम शब्द अरबी भाषा से ग्रहीत प्रतीत होता है। वे इस शब्द का प्रयोग प्रायः पति के लिए ही करते हैं। लेकिन यहाँ पति का अर्थ परमात्मा है।

एक सुहागनि जगत पियारी, सकल जीव जंत की नारी।
खसम करै वा नारि न रौवै, उसका रखवाला और होवै।

अन्यत्र वे जीव को उपदेश देते हुए कहते हैं कि उसे खसम के प्रति उत्तरदायी बनना चाहिए, क्योंकि वही परमतत्व (खसम) ही सब कुछ है।

सायर उतरो पंथ सँवारौ, बुरा न किसी का करणाँ।
कहे कबीर सुनहु रे संतौ, ज्वाब खसम कूँ भरणाँ।।

एक अन्य पद में वे कहते हैं–

खसमहि जाणि खिमा करि गहै।
तो होइ निरवऔ अखै पद लहै।।

जो साधक अपने खसम (परमतत्व) को पहचान कर क्षमा धारण करता है वही परम पद (मोक्ष) को प्राप्त करता है। यही नहीं अन्यत्र वे खसम शब्द का प्रयोग 'जीव' के लिए प्रयुक्त करते हैं।

भाई रे चूँन बिलूँरा खाई।
बाघनि संगि भई सब हिनकै, खसम न भेद लहाई।।
सब घर घोरि बिलूंटा खायौ, कोई न जानै भेव।
खसम निपूतौ आगणि सूता, राँड न देई लेव।।

अर्थात् हे भाई! मन विकार ग्रस्त है लेकिन जीव इस बात को नहीं जाना पाया कि शरीर सब के लिए हानिकारक है। अज्ञानी जीव अभी भी अचेत पड़ा है।.... यहाँ बिलूँरा शब्द विकृत मन के लिए प्रयुक्त हुआ है।

इस प्रकार कबीर साहित्य में 'खसम' शब्द स्वामी तथा परमात्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। लेकिन अन्यत्र वे इस शब्द का प्रयोग 'जीव' तथा 'मन' के अर्थ में भी करते हैं। डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत लिखते हैं–**'कबीर ने इस शब्द का प्रयोग प्रायः दो अर्थों में किया है–एक तो परमात्मा परब्रह्म के अर्थ में और दूसरा मन के अर्थ में।'**

(i) परमात्मा के अर्थ में–

खसमै जाणि खिमाकर रहै, तब होय निरबओ आवै पद लहै।।

(ii) मन के अर्थ में–कहीं-कहीं वे इस शब्द का प्रयोग 'मन' के अर्थ में भी करते हैं। यथा–

खसम मरै तौ नार न रोवै, उस रखवारा और होवै।।

खबारे का होय विनास, आगे नरक ईहा भोग विलास।।

यहाँ माया का वर्णन है। वह मन रूपी खसम के नष्ट हो जाने पर बुद्धि, चित्त आदि में लिप्त हो जाती है।

(ii) जीव के अर्थ में–कहीं-कहीं पर कबीर 'खसम' शब्द का प्रयोग जीव के अर्थ में भी करते हैं। इसका उदाहरण पहले ही दिया जा चुका है। इस प्रकार खसम शब्द का प्रयोग निकृष्ट पति, मन, जीव तथा परमात्मा के अर्थों में हुआ है। परन्तु यह भी सत्य है कि मूलतः यह शब्द फारसी भाषा का ही है। एक उदाहरण देखिए–

भाई मैं दूनों कुल उजियारी।

बारह खसम नैहर खायौ, सोरह खायौ ससुरारी।

6. उनमनि–कबीरदास के काव्य में उनमनि (उनमन) शब्द का भी अत्यधिक महत्त्व है। वस्तुतः नाथ सम्प्रदाय में 'मनोन्मनी' एवं 'अमनस्क' ये दो शब्द प्रचलित थे। इन दोनों के अर्थ के साथ कबीर साहब के 'उनमनि' शब्द का संबंध है। यह शब्द अर्थ की दृष्टि से भी इन दोनों शब्दों का विकसित रूप है। मनोन्मनी पूर्ण समाधि एवं अमनस्क समाधि की उस स्थिति का परिचायक है जब मन भावाभाव अवस्था से विनियुक्त रहता है, उसे अपने होने या न होने की चेतना नहीं रहती। 'उनमनि रहनी' भी समाधि की इसी अवस्था को अभिव्यंजित करता है। इसमें मन के उर्ध्वगति होकर अब परमतत्त्व में लीन रहने का संकेत भी मिलता है।

'उनमन' का शाब्दिक अर्थ है 'उदास', 'उदासीन' एवं 'अन्यमनस्क'। सांसारिक विषयों से उदासीन रहने, जगत में उदास या अन्यमस्क रहने का भाव भी इसी 'उनमनि रहनि' में है। उनमनि रहनि वह स्थिति है जिसमें मन सांसारिक विषयों से ऊपर उठा हुआ है और परमात्मा में लगा रहता है। एक तरफ तो इस शब्द से भगवान के प्रेम के संकेत हैं तो दूसरी ओर भगवान की इच्छानुसार रहने तथा उनके आत्मसमर्पण करने के संकेत भी हैं।

कबीर के शब्दों में–

हंसै न बोलै उनमनी, चंचल मेल्हयामारि।

कहै कबीर भीतरि भिद्या सतगुरू कै हथियार।।

भले ही 'उनमनि' शब्द का प्रयोग नाथों की वाणियों में हुआ है तथा उससे भी पूर्व गीता व पतंजलि योग में भी ध्यानावस्थित तथा समाधि के अर्थों में हुआ हो, किन्तु कबीर साहब ने उनमन, उनमनि तथा उनमन्न शब्दों का प्रयोग केवल समाधि की दशा को अभिव्यक्त करने हेतु किया है–

''उन्मनि ध्यान घट भीतर पाया।''

× × × × × ×

'मन लागा उनमन्न सौं गगन पहुँचा जाई।

देख्या चंद विहूणां चाँपिणाँ तहां अलखनिरंजन राइ।।''

कबीर का मत है कि संसार से विमुख हुए बिना यह उनमनावस्था नहीं प्राप्त हो सकती। कबीर ने इसका अनुभव किया है। जब तक संसार के मोह माया में व्यक्ति भटकता रहेगा तब तक उसका मन ईश्वर में लग ही नहीं सकता। जब व्यक्ति संसार से विरक्त होकर उनमना का सहारा लेता है तो उसे परमतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। कबीर ने इस तथ्य को इन शब्दों में कहा है–

''मन लागा उनमन सौ, उनका मनहि विलग्ग।

लूणं विलगा पाणियाँ, पाणी लूण विलग्ग।।''

अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कबीर ने 'उनमनि' अथवा 'उनमन' शब्द का प्रयोग सहज समाधि, समाधि, संसार से अन्यमनस्क, मन को केन्द्रित करने की शक्ति, निर्लिप्त तथा ध्यानमग्नता आदि के अर्थ में किया है। सार रूप में मन के तत्त्व में स्थिर होने की अवस्था ही 'उनमनि' कहलाती है।

7. अजपा जाप–अजपा जाप का सामान्य अर्थ है, ऐसा जाप जो जपा न जा सके। जाप का अभिप्राय नाम स्मरण से है। इसे सहज जाप भी कहा जाता है। वस्तुतः यह नाम स्मरण की एक पद्धति है, जिसमें किसी प्रकार के बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं है। जैसे ऊँचे स्वर में भगवान का नाम उच्चारण, माला फेरना या उंगलियों के ऊपर प्रभु का नाम गिनना आदि इसमें नहीं होती। इसे शरीर की अन्तःप्रक्रिया कहा जा सकता है जो अपने आप से हुआ करती है। इस क्रिया को सर्वप्रथम 'अजपा जाप' नाम नाथपंथी साधकों ने दिया। नाथपंथी साधक श्वास-निरोध के द्वारा मन को शून्य में केन्द्रित कर 'इदं' के स्थान पर 'सोहम्' का ध्यान करते हैं। **"यही 'सोहम्' क्रमशः शब्द ज्योति में परिवर्तित होकर शून्य के अन्धकार को दूर कर देता है किन्तु इससे अधिक ध्यान उन्होंने राम शब्द की ओर दिया है। इसे सहज जाप भी कहा जा सकता है।"** (डॉ. परशुराम चतुर्वेदी)

सिद्धों एवं नाथों ने अपनी एवं बीजाक्षर की अन्तिम परिणति निरक्षर में स्वीकार की है जबकि कबीर ने मौन रहकर जप करना स्वीकार किया है। वैष्णवों के लिए नाम स्मरण और योगियों के लिए अजपा जाप दोनों साध्य नहीं साधन हैं। बड़े-बड़े मंत्रों एवं श्लोकों को 'सोहम्' का रूप देकर उस पर चित्तवृत्ति केन्द्रित करने का भी यही लक्ष्य है। बीज अक्षरों की उपयोगिता केवल मन को केन्द्रित करने के लिए है। अजपा जाप बिरले ही साधक कर पाते हैं।

अतः स्पष्ट है कि अजपा-जाप एक अन्तःकरण की उपासना पद्धति है। इसके लिए बाह्य साधनों धूप-दीप, पूजा, अर्चना, वन्दना आदि की आवश्यकता नहीं। यह शरीरावयवों के माध्यम से स्वतः होती है। साधक इस स्थिति में पहुँच जाता है कि उसका साध्य उसके सम्पूर्ण शरीर में निवास करने लगता है। वह बर्हिमुखी प्रवृत्तियों से मुक्त होकर आन्तरिक प्रवृत्तियों में या हृदय की अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों में लीन हो जाता है। इस दशा में उसका ध्यान केवल अपने ईष्ट देव में ही लीन रहता है।

8. अनहद नाद–अनहद नाद को अनाहत (अन + आहत) (अर्थात् जो बिना किसी प्रकार का आघात अर्थात् चोट किए बिना उत्पन्न हो) भी कहा जाता है। कहा जाता है कि मानव शरीर में ही एक ऐसी ध्वनि स्वतः उठती है जिसे सुनने में समर्थ होने पर फिर किसी भी विषय की कामना नहीं रहती है। किन्तु इस ध्वनि को निरन्तर अभ्यास और साधना करने वाले योगी ही सुन सकते हैं। पिण्ड में ब्रह्माण होने का विश्वास करने वाले लोग कहते हैं कि ब्रह्मण्ड में व्याप्त दिव्य संगीत को पिण्ड (मानव शरीर) में अनहद नाद के रूप में सुना जा सकता है। यूरोप के विद्वानों व दार्शनिकों ने इसे म्यूजिक स्फेयर्ज के रूप में स्वीकार किया है। अनहद नाद के विषय में तंत्रालोक में भी कहा गया है–

एक नादात्मको वर्णः सर्व वर्ण विभागवान्।
सोऽनरत्तमित रूपत्वादनाहत इहोदितः।।

अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण वर्णों में एक नाद वर्ण ही विभाजित हो रहा है। वह मूल नाद सदा उच्चरित रूप वाला है। वह कभी अस्त नहीं होता, अतः उसका नाम 'अनाहत नाद' कहा गया है। कुंडलिनी योग इसी नाद का अनुभव होता है। 'अनहद' शब्द में एक व्यंजना और आ गई है कि यह नाद 'हद' से परे है। यह कब और कहाँ से आरम्भ होता है और कब इसका अन्त होता है इसका किसी को पता नहीं। इसीलिए तो इसे 'अनहद नाम' कहा गया है।

कबीरदास के काव्य में इसे अनेक नामों से अभिहित किया गया है, यथा–'गगन-गर्जना', 'अनहद किंकुरी', 'अनहद बाजा', 'अनहद झंकार' आदि। इस सब शब्दों के प्रयोग का प्रमुख लक्ष्य ईश्वर की अनुभूति को व्यक्त करना है।

कबीर साहब ने कहा है–

कहै कबीर धुनि लहरि प्रगटी, सहजि मिलैगा सोई।
अनहद सबद उठै झणकार, तहां प्रभु बैठे समरथ सार।।

अनहद नाद को सुनना कोई सरल कार्य नहीं है। प्रायः मानव की सुषुम्ना नाड़ी का मार्ग बन्द रहता है। इसका कारण यह है कि जीवन बहिर्मुखी होने के कारण संसार के अंतस्थल तथा निखिल ब्रह्माण्ड में ध्वनित होने वाले अखंड नाद को सुन नहीं पाता। पिंड में स्थित नाद भी केवल वही साधक सुन सकते हैं जिनकी कुंडलिनी जागृत होती है तथा जिनकी प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवेश कर जाती है। कबीरदास ने इसे निम्नांकित शब्दों में समझाया है–

पंषि उड़ानीं गगन कूँ, उड़ी चढ़ी असमान।
जिहि सर मंडल भेदिया, सो सर लागा कान।।

अनहद नाद की प्रक्रिया पूर्णतः योग परक है। साधारण व्यक्ति इसे नहीं सुन सकता। कबीर ने गुरु गोरखनाथ से प्रभावित होकर अनहद नाद का वर्णन किया है। कबीर साहब के मतानुसार नाद में बिन्दु के स्थिर होते ही गगन में अनहद नाद का शब्द उठता है–

"अवधू नादै ब्यंद गगन गाजै, सबदे अनाहद बोलै।"

अतः स्पष्ट है कि कबीर ने परम्परागत अर्थ में ही 'अनहद नाद' का प्रयोग किया है जिसे पहुँचे हुए साधक ही सुन सकते हैं तथा इसे सुनने के पश्चात् कुछ भी सुनने को नहीं रह जाता अर्थात् सांसारिक आकांक्षाएँ व कामनाएँ उत्पन्न नहीं होतीं। साधक का ध्यान अपने आराध्य में लीन हो जाता है। उसकी स्थिति आनन्दमय रहती है।

9. सुरति-निरति—सुरति शब्द की उत्पत्ति 'सु' उपसर्ग पूर्वक रम् धातु से होती है। 'रम्' धातु के दो अर्थ होते हैं—रुचि जाना तथा रमण करना। अतः स्पष्ट है कि सुतराम रति अर्थात् किसी विषय में इतना अधिक आनन्द प्राप्त करना कि जिससे चित्त मन की चंचलता समाप्त हो जाए। कहने का तात्पर्य है कि मन उसी विषय में रम जाए, कहीं अन्यत्र न जाए। कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ संभोग के समय प्राप्त होने वाला आनन्द से किया है। कबीरपन्थियों ने इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु आगे चल कर निर्गुण संत कवियों ने इसका प्रयोग आध्यात्मिक संदर्भ में किया है अर्थात् अराध्य का ध्यान लगाने से ईश्वरीय आनन्द को प्राप्त करना।

इसी प्रकार 'निरति' शब्द नि उपसर्ग पूर्वक 'रम' धातु से बना है। नित राम रति का अर्थ है पूर्णलीन रति। 'निरति' 'सुरति' की ही चरमावस्था है। साधना की चरम स्थिति में पहुँचने पर सुरति निरति में लीन हो जाती है। सोऽहं जाप निरञ्जन जाप में परिवर्तित हो जाता है। साकार निराकार बन जाता है।

सन्तों से पूर्व नाथ-सिद्धों के काल में भी सुरति शब्द का प्रयोग मिलता है किन्तु प्राचीन साहित्य में नहीं। सिद्धों ने केवल सुरति का संकेत अवश्य किया है 'निरति' का नहीं। सिद्धों ने सुरति का अर्थ प्रेमालाप से लिया है। जबकि नाथों ने इसका प्रयोग साधना विशेष के लिए किया है। जहां अनहद नाद से 'सुरति' का सम्बन्ध माना गया है, वहां 'निरति' की स्थिति 'सुरति' के उपरान्त निरालम्ब स्वीकार की गई है। 'सुरति' का अनहद नाद जो साधक को सुनाई पड़ता है वह निरति की अवस्था में उसी नाद में लीन हो जाता है। इस प्रकार साधक लौकिक जगत से मुक्त होकर अलौकिक जगत में विचरण करने लगता है।

संतों ने इन दोनों शब्दों को नाथपंथियों से ग्रहण किया है। गोविन्दनाथ के शब्दों में—

"अवधू सुबद अनहद सुरति सोंचित। निरति निरालंभ ताली बंध।
दुबध्या मेटि सहज में रहै। ऐसा विचार गोविंद कहै।।" (—गोरक्षबानी)।

सुरति स्मृति जगत है, जो कि चिन्तन तक सीमित रहती है, और वहीं तक स्मृति कार्य करती है। निरति आत्मिक जगत है। इसका संबंध आत्मा से है। अतएव वहां स्मृति की जो बुद्धि से संबंध रखती है, भूमाइश समाप्त हो जाती है।

कबीरदास ने इसी अर्थ में 'सुरति'-'निरति' शब्दों का प्रयोग किया है—

सुरति समांनी निरति में, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्वयं दुवार।
सुरति समांननी निरति में, अजपा माहे जाप।
लेख समाना अलेख में यों आपा पद आप।।

कबीर का चिन्तन नाथों एवं सिद्धों से प्रभावित है। वे नाथों के अनुसार ही सुरति में अपूर्व अद्भुत शक्ति स्वीकार करते हैं। वे इसे एक रस कहते हैं जिसका नाम ब्रह्मानन्द दिया है। कबीर ने ब्रह्मानन्द के लिए अमृत, महारस और सुधारस आदि शब्दों का प्रयोग किया है। वे तो अजपा-जाप को भी सुरति के अन्तर्गत महत्व देते हैं। उनके विचारानुसार अजपा की दो स्थितियां हैं—एक सुरति और दूसरी निरति। सुरति सूक्ष्म तत्व है। यद्यपि यह शुद्ध रूप से योग का शब्द है। लेकिन इसमें प्रेम तत्व भी समाहित है। उसका उद्भव एवं विलय दोनों ही प्रेम से सम्बन्धित हैं। सती के रूपक में कबीर ने सुरति शब्द का प्रयोग किया है। वे कहते हैं—

सती जरन कौ नीकसी पीउ का सुमिरि सनेह।
सबद सुनत जिय नीकसा भूति गई सुधि देह।।

कबीरदास ने कहीं-कहीं सुरति का अर्थ साधना विशेष से लेकर 'स्मृति' से लिया है।

विषमा अवहूँ सुरति सुख आसा।
हूँड़ न देई हरि के चरण निवासा।।

कबीरदास ने 'सुरति' शब्द का प्रयोग कहीं स्मृति के अर्थ में तो कहीं 'वेदों' के लिए और कहीं सौंदर्य के अर्थ में किया है। किन्तु सबके प्रसंग अलग-अलग हैं। जहां कहीं वे साधक की बात करते हैं तो वहां उनका तात्पर्य निरावलंब स्थिति से है। सुरति जब निरति में समा जाती है तो सहज ही परमतत्व का परिचय हो जाता है।

इस विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि भले ही कबीर साहब ने सुरति-निरति का प्रयोग नाथपंथियों के प्रभाव में किया हो किन्तु उन्होंने इन शब्दों का प्रयोग नये संदर्भ और नये अर्थ में किया है तथा उस पर अपनी भक्ति भावना का आवरण चढ़ा दिया है। सुरति-निरति का प्रयोग कबीर ने एक साथ किया है। सुरति से तात्पर्य परमात्मा के प्रति अनुरक्त होना है तथा निरति से अभिप्राय परमात्मा में लीन होना है। सुरति परमात्मा के प्रणय को प्राप्त करने का प्रथम सोपान कहा जा सकता है और निरति वह दशा है जहां ब्रह्मानन्द की प्रणयानुभूति साधक को प्राप्त होती है। कबीर के काव्य में ऐसी स्थितियों का कतिपय वर्णन हुआ है।

10. नाद-बिंदु–नाद तथा बिन्दु की कल्पना योगियों द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति के सन्दर्भ में प्राचीनकाल से चली आ रही है।

(i) **'नाद'** शब्द का पर्यायवाची है। यह वह तत्त्व है जिसके द्वारा अव्यक्त व्यक्त रूप में प्रकट हुआ है। यही नाद मानव शरीर में व्यष्टि रूप में विद्यमान है। योगी साधना द्वारा उसकी अनुभूति प्राप्त करते हैं। इसी नाद से ज्योति उत्पन्न होती है। यह नाद मानव शरीर में परम तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है तथा इसे **'शिव'** की संज्ञा भी दी गई है।

(ii) **'बिन्दु'** उस शक्ति का परिचायक है जो शिव से मिलकर सार्थक होती है। योगी जन कभी इसे जीव तत्त्व भी कहते हैं। पुनः वे इसे जीव-शक्ति के रूप में 'वीर्य' का पर्याय भी कहते हैं। ब्रह्मचर्य की एक अन्य साधना का नाम बिन्दु की साधना है। जहाँ वज्रयानी बौद्ध सिद्धों ने इस प्रकार की साधना की अपेक्षा की वहाँ गुरु गोरखनाथ और उनके अनुयायियों ने काया साधना की दृष्टि से इसे पुनः महत्त्व प्रदान किया।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नाद और बिन्दु के बारे में गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया है। उन्होंने इन शब्दों के दार्शनिक तथा सैद्धान्तिक दोनों पक्षों पर प्रकाश डाला है–

(क) नाद से दो प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई–**नाद-रूपा** तथा **बिन्दु-रूपा**।

(ख) नाद रूपा सृष्टि शिव्यक्रम से आगे बढ़ती है लेकिन बिन्दु-रूपा सृष्टि सन्तान के रूप में आगे बढ़ती है।

(ग) नाद से नव नाथ (गोरखनाथ आदि) जन्मे और बिन्दु से सदाशिव भैरव। नाद से पहले सूक्ष्म रूपिणी और बाद में स्थूल रूपिणी सृष्टि उत्पन्न हुई।

(घ) सूक्ष्म रूपिणी सृष्टि है–प्रणव, महागायत्री, और योग शास्त्र। स्थूल रूपिणी सृष्टि है–ब्रह्म गायत्री और वेदत्रयी।

आचार्य परशुराम शास्त्री ने भी नाद और बिन्दु के बारे में पर्याप्त विवेचन किया है–

(i) गोरखनाथ ने नाद में लय प्राप्त करने की चर्चा की है। यह किसी विरले को ही प्राप्त होती है। जिसे प्राप्त होती है वह सिद्ध हो जाता है।

नाद नाद सब कोई कहौ। नादहि ले को बिरला रहै।।
नाद बिंद है फीका सिला। जिहि साध्या ते सिधैं मिला।।

(ii) बिन्दु के बारे में भी गोरखनाथ का यही कथन है कि कोई विरला ही इसे सिद्ध करता है, क्योंकि ऐसी साधना के लिए आध्यात्मिक अनुभूति का होना अनिवार्य है।

ब्यंद ब्यंद सब कोइ कहै। यहा ब्यंद कोई बिरला लहै।।
इह ब्यंद भरौसे लावै बंध। असिथिर होत न देखो कंध।।

उपर्युक्त कथन में वे 'महाबिन्दु' को परमब्रह्म मान लेते हैं।

(iii) कबीर ने बिंदु की उत्पत्ति का मूल कारण स्वीकार किया है–

जो पै करतना बरण बिचारै तो जनमत तीनी डाँड़ि कि न सौरे।
उत्पति ब्यंद कहाँ थै आया, जो धरी अरू लागी माया।।

या

माटी का प्यंड सहजि उतपनाँ, नाद रू ब्यंद समाँनाँ
बिनसि गयाँ थे का नावँ धरि हौ, पढ़ि गुनि हरि भ्रमं जाना।।

(iv) एक अन्य पद में वे कहते हैं कि वह 'काज़ी' जन्म और मृत्यु से मुक्त हो जाता है जो बिन्दु का क्षरण स्वप्न में भी नहीं होने देता।